रवीन्द्र
दर्शन

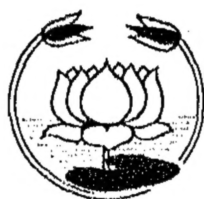
रवीन्द्र-दर्शन

('फिलॉसफी ऑफ टैगोर' का हिन्दी-रूपान्तर)



लेखक
डॉ० सर्वेपल्ली राधाकृष्णन्

अनुवादिका
डॉ० ज्ञानवती दरबार



१९६३

रंजन प्रकाशन : नई दिल्ली

प्रकाशक : रंजन प्रकाशन
७, टॉलस्टॉय मार्ग
नई दिल्ली

संस्करण : प्रथम १९६३
मूल्य : छः रुपये

मुद्रक : नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
१०, दरियागंज,
दिल्ली

आमुख

भारतीय शास्त्र के अनुसार कवि वह है जो दर्शन और वर्णन दोनों में निपुण हो : दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ... । रवीन्द्रनाथ इसी मौलिक अर्थ में कवि थे । उन्होंने युग के परिवेश में जीवन-सत्य का दर्शन किया और अपनी अद्‌भुत प्रख्या के द्वारा उसका अमर आख्यान किया । किन्तु चिंतक के दर्शन में और कवि के दर्शन में स्पष्ट भेद यह है कि पहला विचारित होता है और दूसरा अनुभूत । विचारक जहां चिंतन और तर्क के माध्यम से सत्य का अनुसंधान करता है, वहां कवि अनुभूति के माध्यम से उसका साक्षात्कार कर लेता है । फलतः दार्शनिक का दर्शन व्यवस्थित, क्रमबद्ध एवं शास्त्रीय होता है और कवि का विकीर्ण । दार्शनिक अपने विचारों को निष्कर्ष के रूप में उपस्थित कर सकता है––करता है, क्योंकि वे तथ्य-रूप होते हैं; किन्तु कवि का दर्शन उसकी रचना में रमा हुआ रहता है, वह कल्पना और भाव की जाली में बुना रहता है । अतः उसे पृथक् कर फिर से विचार-रूप में प्रस्तुत करने के लिए सूक्ष्म-गहन शास्त्रीय दृष्टि की अपेक्षा होती है ।

यह एक अपूर्व संयोग था कि रवीन्द्रनाथ जैसे विश्व-कवि के दर्शन का विवेचन करने के लिए डा० राधाकृष्णन् जैसे महान् दार्शनिक की मेधा का सहयोग प्राप्त हो गया । प्रख्या और उपाख्या का यह मणिकांचन योग ही प्रस्तुत ग्रन्थ के गौरव का रहस्य है । डा० राधाकृष्णन् की गणना विश्व केसर्वश्रेष्ठ दार्शनिकों एवं विचारकों में की जाती है; पर ४५ वर्ष पूर्व लिखित इस पुस्तक में ही उनकी गंभीर मेधा के दर्शन हो जाते हैं । जब यह पुस्तक लिखी गयी थी तब लेखक तो अपनी तरुणाई के प्रथम चरण में थे ही... स्वयं रवीन्द्र के भी काव्य-सृजन का पूर्वार्द्ध ही था । फिर भी कवि की 'दृष्टि' तब तक स्थिर एवं पुष्ट हो चुकी थी । डा० राधाकृष्णन् ने कवि के इसी मूल 'दर्शन' का आख्यान किया है । इस आख्यान में उन्होंने रवीन्द्र को शुद्ध भारतीय आध्यात्म-दृष्टि की पीठिका में उपस्थित कर उन समस्त तर्कों का निरसन किया है जो उन्हें ईसाई धर्म-चेतना से अनुप्रेरित सिद्ध करने के लिए प्रयासशील रहे हैं । ऐसे व्यक्तियों को लेखक ने ऐतिहासिक चेतना से शून्य माना है । उनके अनुसार, 'यदि रवीन्द्रनाथ को व्यक्तिगत ईश्वर के उपासक के रूप में देखा जाय, तो उन्हें उन धार्मिक भक्तों की लम्बी तथा उदात्त परम्परा की एक जीवंत कड़ी माना जा सकता है जिन पर भारत को उचित गर्व है ....।' इसी प्रकार रवीन्द्र-दर्शन के मानवतावाद का भी सम्यक् विश्लेषण करने

के पश्चात् लेखक ने उसे मूलतः हिन्दू मानवतावादी विचारधारा के अन्तर्गत ही प्रतिष्ठित किया है।

किसी भी कवि के दर्शन की विवेचना में काव्य और दर्शन के द्वन्द्व का प्रश्न सहज ही उठाया जाता है। काव्य और दर्शन के इस शाश्वत द्वन्द्व को ध्यान में रख कर लेखक ने रवीन्द्र की कविता का भी समुचित मूल्यांकन किया है; और इस सन्दर्भ में वे दार्शनिक ही नहीं, काव्य-मर्मज्ञ के रूप में भी प्रकट होते हैं। रवीन्द्र-काव्य की दार्शनिक दीक्षा को समझने में यह अध्याय अत्यन्त उपयोगी है।

दार्शनिक दृष्टि को बहुमान तभी दिया जा सकता है जब वह अपने समसामयिक जीवन को समझने में सहायता दे. . . विशिष्ट दिशाओं में कार्य करने की प्रेरणा दे। डा० राधाकृष्णन् से अधिक दर्शन के इस उपयोग को कौन जानता है! स्वभावतः उन्होंने रवीन्द्र-साहित्य से प्राप्त सन्देश की व्याख्या कर उसे जन-सामान्य के लिए सुलभ कर दिया है।

वस्तुतः प्रस्तुत पुस्तक आधुनिक भारत के दो सर्वश्रेष्ठ मनीषियों को एक साथ समझने में सहायक होगी। इसके माध्यम से हम कवि रवीन्द्र के ही नहीं, डा० राधाकृष्णन् के भी विचारों से अवगत हो सकेंगे। ऐसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक का अनुवाद करने के लिए श्रीमती डा० ज्ञानवती दरबार को मैं हार्दिक बधाई देता हूं। उनका अनुवाद मूल स्थापनाओं को सुघरी भाषा में व्यक्त करने में सफल हुआ है। अनुवादक की अपनी शैली सुष्ठु और प्रवाहमयी है और उन्होंने बड़े परिश्रम तथा अवधान के साथ अपने कर्तव्य का पालन किया है।

श्रावणी, २०२०
दिल्ली-विश्वविद्यालय

नगेन्द्र

निवेदन

अपने पिछले जन्मदिन पर जब डा० राधाकृष्णन् ने पूज्य राजेन्द्रबाबू को एक पुस्तक (फेलोशिप ऑफ दि स्पिरिट) भेंट की थी, उसी समय मैंने उसका अनुवाद आरंभ किया था और उस समय मैंने अनुभव किया था कि वह बालक के चलने-जैसा मेरा प्रयास था। किन्तु दो डग भरकर बालक और आगे चलने का साहस करने लगता है। समय आता है कि वह दौड़ने भी लगता है। यह तो मैं मानूंगी कि अभी दौड़ने जितना साहस तो मुझमें नहीं आया; हां, इस पुस्तक का अनुवाद करके दो कदम और आगे चलने की हिम्मत मैंने अवश्य की है।

जिन दिनों रवीन्द्र-शताब्दी-समारोह की धूम थी, यह पुस्तक मेरे हाथ में आयी। मैं अथ से इति तक इसे पढ़ गयी और पढ़ते-पढ़ते कई जगह मैं कवि और लेखक दोनों के भाव और विचारों के बुने इस चित्र-पटल पर अपने मन के रंग भरने लगी। मैंने सोचा, यदि चिंतन की इन लड़ियों को लेखक ने अंग्रेजी में पिरोया है, तो क्यों न मैं उन्हें हिन्दी कड़ियों में भी जोड़ दूं! लेखक ने स्वयं अपनी भूमिका में लिखा है कि "अनुवाद चाहे कितना ही उपयुक्त क्यों न हो, उनमें मूल रचना की पद्य-प्रतिभा का अभाव रहता ही है।" यही मैं भी यहां दोहरा सकती हूं। किन्तु उदारमना कवि ने समीक्षक लेखक के प्रयास को सराहा और उसका अभिनन्दन किया, इसी प्रकार जब मैं इस अनुवाद को पूरा करके डा० राधाकृष्णन् के पास ले गयी तो उन्होंने मेरा उत्साह बढ़ाया। उन्होंने कहा, 'यह मेरी पहली पुस्तक है और १९१८ में लिखी थी जब मैं उम्र में काफी छोटा था।' मैंने उन्हें उत्तर दिया था—'ठीक वही अवस्था तो मेरी भी है।' इस पर मेरी बात काटते हुए उन्होंने कहा—'नहीं, तुमसे भी छोटा। मैं जब २० साल का ही था, तभी से मैंने टैगोर को पढ़ना आरंभ किया और मैं उनका भक्त बन गया। वही भक्ति की धारा इसमें स्वयं प्रवाहित हो उठी।' उनके इस उत्तर से मुझे कुछ संतोष हुआ और यह सोच-कर साहस भी मिला कि इसका अनुवाद करने में मुझे झिझक नहीं होनी चाहिए। पूज्य राजेन्द्रबाबू ने भी मुझे इस कार्य के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार दो महा-पुरुषों के आशीर्वाद से मैंने यह कठिन कार्य आरंभ किया।

मैं यहां स्वीकार करती हूं कि इसका अनुवाद करते-करते स्थान-स्थान पर कभी मैं इसके भावों की गहराइयों में डूब जाती, कभी जीवन की गहरी व्यथा की घड़ियों में इन पंक्तियों ने मुझे सान्त्वना की थपकी दी और नीरव एकान्त की अंधेरी रात में उनींदी आंसूभरी आंखों को मानो लोरी देकर सुलाया—और जीवन की करुणा में कभी-कभी मेरे मर्म पर सहानुभूति का मलहम लगाया—

लेखक कवि के हृदय की करुणा का रस पाकर अपने तत्त्व-चिंतन में एक नई

मर्मस्पर्शी सहानुभूति से आप्लावित हो गया है जिससे जीवन की व्यथा अन्तर की महानतम आस्था बन गयी और सत्य की अनुभूति जीवन में दीप-शिखा बनकर जगमगा उठी। उसीके मधुर आलोक में उनके भावों और विचारों को अभिव्यक्ति का पथ मिल गया। ज्योति से ज्योति जगती है; धर्म और दर्शन से सिंचित लेखक का हृदय-दीप कवि की अन्तर-ज्योति से जग उठा। उसी द्विगुणित प्रकाश को लेखक ने श्रद्धा से इस पुस्तक में संजोया है।

लेखक के दर्शन में रवीन्द्रनाथ के भाव और विचार पारदर्शक बन गये हैं जिन्हें पाठक सहज ही आर-पार देख सकता है। रवीन्द्र के संगीत-स्वरों ने लेखक के युवक-हृदय पर ऐसी टकोरें की हैं जिनसे चिन्तन-ध्वनियां प्रतिध्वनित हो उठीं। ध्वनि के बाद प्रतिध्वनि की नाईं, कवि रवीन्द्र के भावों के बाद दार्शनिक राधाकृष्णन् के विचारों का अनुगमन अपने-आप होता चलता है। संवेदना और विचारों का समन्वय होता है और लेखक अपनी दर्शन-दृष्टि से इसीका पुनः विश्लेषण करता है जो अधिक स्पष्ट बनकर हमारे सामने आ जाता है। संवेदना जैसे-जैसे अधिक गहन बनती जाती है, विचार जैसे-जैसे अधिक प्रौढ़ बनते जाते हैं, अनुभव होता है लेखक का भावोद्वेग भी वेग पकड़ता जाता है। संवेदनशील कवि ने मानव-जीवन के सुख-दुःख में एकाकार होकर अपना हृदय खोल दिया है, जबकि तरुण लेखक ने अपने आराधक कवि के ध्यान में उसकी आत्मा से एकाकार होकर अनजाने ही उसके सुन्दर रूप का प्रत्यक्ष दर्शन किया जान पड़ता है। और तब ध्यानमग्न चिंतनशील लेखक ने बताया है कि किस प्रकार प्रकृति और मनुष्य के प्रति उनका प्रेम अनजाने भाव से भगवान के प्रति उनके प्रेम में विलीन हो गया—'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की भाव-त्रिवेणी में खो गया और सबके साथ उनका हृदय भी उस स्वर, लय और ताल में एकरस हो गया।

इसके साथ ही दार्शनिक लेखक ने इस पुस्तक में मानव, मानवता और मानव-धर्म के मर्म को समझाने का यत्न किया है। उन्होंने रवीन्द्रनाथ टैगोर के विचारों के अनुरूप राष्ट्र और राष्ट्रीयता के सही अर्थ का दर्शन किया और कराया है, धर्म और शिक्षा-सम्बन्धी तत्त्व-चिन्तन का सार बताया है, राजनैतिक और सामाजिक सुधार का मार्ग दिखाया है तथा नैतिक उत्थान और आर्थिक पुनर्निर्माण का पथ प्रशस्त किया है। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर के जीवन-दर्शन की छाया में जो भी शुभ और मंगल था, उसे अपने चिन्तन की लड़ी में पिरोकर इस पुस्तक में संगृहीत कर दिया है। निश्चय ही इससे हम अपना और राष्ट्र का दोनों का कल्याण कर सकते हैं।

हिन्दी-पाठकों के समक्ष इस पुस्तक को रखते हुए मुझे खुशी है। इस प्रयास में मैं कितनी सफल हुई हूं, इसका निर्णय तो सुविज्ञ पाठकों पर ही छोड़ती हूं।

नई दिल्ली
१ सितम्बर, १९६२

—ज्ञानवती दरबार

विषय-सूची

परिचय

रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाओं से मैं सबसे पहले सन् १९१८ में परिचित हुआ। उनकी 'गीतांजलि' और 'साधना' का मुझपर गहरा असर पड़ा। मैंने 'दि क्वेस्ट'[1] नामक पत्रिका में दो लेख लिखे, जिनमें उनके जीवन-दर्शन की, भारतीय आत्मा की मौलिक अभिव्यक्ति के रूप में मैंने व्याख्या की। टैगोर ने इन लेखों को 'अत्यधिक संतोषप्रद' ही नहीं, 'सहानुभूतिपूर्ण और 'प्रवाहपूर्ण शैलीयुक्त' कहने की कृपा की। इन शब्दों से प्रोत्साहन पाकर मैंने अपने इस विचार का 'टैगोर तत्त्व-दर्शन' नामक पुस्तक के रूप में विस्तार किया।

जब मैंने उनसे पुस्तक के 'प्रूफ' पढ़ने, और, संभव हो तो इसका प्राक्कथन लिखने की प्रार्थना की, तब उन्होंने अपने ढंग का विलक्षण उत्तर दिया, "आपकी पुस्तक का प्राक्कथन लिखना मेरे लिए बड़ा कठिन है, क्योंकि मैं नहीं जानता कि उसे लिखने में मेरा क्या कर्त्तव्य है। यदि इसका उद्देश्य पाठकों का मार्ग सरल बनाना है तो ऐसे कार्य को कुशलता से करने के लिए मैं अन्तिम व्यक्ति होऊंगा। क्योंकि अपने ही दर्शन-शास्त्र के विषय में कुछ कहने में मेरी स्थिति मि० जूर्दं की जैसी थी, जो अपने सारे जीवन में स्वयं जाने बिना ही गद्य का सृजन करते रहे। यह कहने से मेरे अहंकार को गुदगुदी हो सकती है कि मेरी रचनाओं के प्रवाह में दार्शनिक विचारों का खरा सोना निहित है, और उस प्रवाह की रेती को धोकर सोने की ईंटें बन सकती हैं तथा उन ईंटों को पिघलाकर उसके टुकड़ों से सुन्दर आभूषण बन सकते हैं। फिर भी यह सब खोज निकालना पाठकों का काम है; मेरे लिए यह भयंकर जिम्मेदारी होगी कि मैं उस तत्त्व के शोधकों को उसकी प्राप्ति का आश्वासन दूं और उसकी अनुभूति का विश्वास दिलाऊं। यदि एक डाक्टर किसी रोग पर एक वैज्ञानिक निबंध लिखता है और मैं अपने शारीरिक ढांचे पर उसे घटित करूं तो उसके सत्य की साक्षी बनना मेरे लिए बड़ी भद्दी धृष्टता होगी; क्योंकि मुझे तो केवल कष्ट की अनुभूति है, लेकिन उसका निदान डाक्टर के हाथ में है।"[2] इन संगत कारणों से उन्होंने प्राक्कथन लिखना जहां अस्वीकार तुरंत ही किया, वहां उन्होंने मुझे इस रचना को उन्हें समर्पण करने की स्वीकृति दे दी; और जब पुस्तक प्रकाशित हुई तब उन्होंने इसके संबंध में बहुत ही उदार अभिमत प्रकट किया, जिसे, अब मैं समझता हूं कि यह पुस्तक उसके योग्य नहीं है, क्योंकि इसमें यौवन का उत्साह तो है परन्तु संयम की कमी है। उन्होंने लिखा था

---

[1] अप्रैल और जुलाई, १९१७

[2] ९ मई, १९१८

कि "आपकी पुस्तक मिली और उसे पढ़कर मुझे खुशी हुई। जब आपने उसके फरमे मेरे पास भेजे थे तब उन्हें देखने के प्रति मैं बहुत ही उदासीन था। इसीलिए मैंने उन फरमों को श्री एंड्रूज़ को देखने के लिए दे दिया। मैं अपनी ही रचनाओं के दर्शनतत्त्व के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा बनाने की धृष्टता नहीं कर सकता; और यदि मैं करूं भी तो वह गलत भी हो सकती है। इसलिए, आपकी पुस्तक के सम्बन्ध में जितना भी मुझसे बन पड़ा, मैंने अपने-आपको उसके विषय से अनासक्त रखने का यत्न किया और मैंने उसे इस तरह पढ़ा मानो वह किसी अन्य व्यक्ति से सम्बन्ध रखती है, मुझसे नहीं। यदि उस पुस्तक की समालोचना को, जिसका मुझसे सम्बन्ध है, गंभीरतापूर्वक स्वीकार न भी किया जाए, तो भी मैं कह सकता हूं कि वह मेरी आशाओं से बढ़-चढ़कर है। इस पुस्तक में आपके प्रयत्न के मनोनिवेश और आपकी पैनी दृष्टि को देखकर मैं चकित हो गया। शब्दाडंबर तथा पांडित्य-प्रदर्शन से मुक्त इसकी भाषा के साहित्यिक सौष्ठव के लिए मैं आपको अभिनन्दनीय समझता हूं।"[१]

उनसे मेरा व्यक्तिगत परिचय सन् १९१८ में हुआ जब वह मैसूर आये। तब यह पुस्तक प्रकाशित हो चुकी थी। उसके बाद से मैं उनका स्नेह और मैत्री पाता रहा, जो बीतते वर्षों के साथ अधिक घनिष्ठ होती गई और उनके जीवन के अन्तिम समय तक बराबर बनी रही।

इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण १९१९ में प्रकाशित हुआ, किन्तु उसके बाद अन्य संस्करणों को छपवाने में मुझे संकोच-सा रहा, क्योंकि मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि यह पुस्तक टैगोर के अंग्रेजी-लेखन और उनकी बंगला-रचनाओं के अनुवादों पर आधारित है। जिस लेखक की रचनाओं को मैं उनके मूल रूप में नहीं पढ़ सकता था, उसकी पुस्तकों की समीक्षा करना मुझे कुछ अनुचित लगा। अनुवाद चाहे कितने ही उपयुक्त क्यों न हों, उनमें मूल रचना की पद्य-प्रतिभा का अभाव रहता ही है। इसलिए दो संस्करणों के निकल जाने पर मैंने इसके अन्य संस्करण नहीं निकलने दिये। किन्तु अब, टैगोर के इस शताब्दी-समारोह के अवसर पर, विभिन्न जनसमुदायों की मांग को ध्यान में रखकर मैंने इसके पुनः प्रकाशन की स्वीकृति दे दी। लगभग ४५ वर्ष पूर्व के, दार्शनिक समस्याओं के प्रति, मेरे दृष्टिकोण को समझने में शायद यह उपयोगी हो।

फरवरी, १९२१ में मेरा सम्बन्ध कलकत्ता-विश्वविद्यालय से हुआ और वहां मुझे कविवर से मिलने के कई अवसर मिले। कलकत्ता-विश्वविद्यालय में रहते हुए मैंने अनुभव किया कि भारत में दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए वर्ष में कम-से-कम एक बार मिलने की बहुत आवश्यकता है, जिससे विचारों का आदान-प्रदान

---

[१] दिसम्बर २८, १९१८ के पत्र से

हो और दर्शन के अध्ययन को प्रोत्साहन मिले। परिणामस्वरूप दिसम्बर, १९२५ में 'भारतीय दर्शन-परिषद्' का जन्म हुआ। १९ दिसम्बर, १९२५ के दिन उसके प्रथम अधिवेशन के सभापतित्व को ग्रहण करने के लिए टैगोर को मनाने में हम सफल हुए।

भारत प्रतिकूलताओं का देश है। टैगोर - जैसे व्यक्ति की भी छिद्रान्वेषक आलोचना हुई। एम० रोमांरोलां को कलकत्ता से लिखे एक पत्र[१] में उन्होंने कहा, "व्यक्तिगत रूप से मैं नहीं समझता कि आवश्यकता से अधिक सावधान रहनेवाले मेरे डाक्टर ने मुझे रोककर (यूरोप की यात्रा पर जाने से) समझदारी की। वह यह नहीं समझते कि भारत में रहने से मुझपर कितना मानसिक दबाव पड़ता है। नैतिकता-सम्बन्धी एकाकीपन, जो मेरे लिए सतत और अदृश्य भार है, मुझे सबसे अधिक तंग करता है।" संसार-भर के महान् मस्तिष्क वाले लोगों का यह अनुभव है कि उन्हें गलत समझा जाता है और वे अंतरात्मा की वेदना से पीड़ित रहते हैं। क्रियात्मक चिंतकों के रूप में उनका कर्तृत्व उनपर आत्मा का एकान्त लाद देता है; किन्तु ऐसे मनुष्यों द्वारा समाज पर उनका प्रभाव प्रयत्नपूर्वक डाला जाता है, जो न तो सर्वदा उन्हें समझते हैं और न ही उनके प्रति सहानुभूति रखते हैं। जब कविवर ने 'हिब्बर्ट-भाषणमाला' के निमित्त ऑक्सफोर्ड की यात्रा के लिए मेरे निमंत्रण की बात सुनी, तो उन्होंने स्वयं अपनी हिब्बर्ट-भाषणमाला के सम्बन्ध में मुझे लिखा कि "यदि छोटी-मोटी चिन्ताएं, तुच्छ दावे, झूठी अफवाहें और गूंजती चर्चाएं, जो भारत में रहते हुए मुझे चारों ओर से घेरे रहते हैं, मुझे कुछ काल के लिए भी अवकाश दे देंगे, तो मुझे आशा है कि अगले वर्ष के अक्तूबर के अन्त में ऑक्सफोर्ड के श्रोताओं के सामने पढ़ने के लिए अपना भाषण समय पर लिखना मेरे लिए संभव हो सकेगा। यदि उस समय अपने कमजोर स्वास्थ्य के कारण मैं यूरोप की यात्रा नहीं कर सका तो क्या आप उन भाषणों को मेरी ओर से वहां पढ़ देंगे ?"[२] सौभाग्य से उन्होंने ऑक्सफोर्ड की यात्रा की।

मार्च, १९३० में मैंने ऑक्सफोर्ड के मंचेस्टर कॉलेज में उनके हिब्बर्ट-भाषण सुने, जिनमें उन्होंने भारत की प्राचीन विवेक-बुद्धि की उपयोगिता पर बल दिया। उन्होंने कहा, "मेरा धर्म उस श्रेष्ठ व्यक्ति, विश्व की मानवात्मा के साथ अपनी आत्मा के समझौते में है।" उन्होंने हमें प्रेम और मानवता, सौन्दर्य और हास्य का धर्म सिखाया। भरी सभाओं ने उनके भाषण सुने। यद्यपि बहुतों ने उन्हें समझा नहीं, फिर भी उनके काव्य के जादू और उनकी वाणी के संगीत ने सबको मुग्ध कर दिया। उनके वृद्ध चेहरे पर चिंतन और संघर्ष की गहरी रेखाएं खिंची थीं, किन्तु उनके आनन्दमय मुख पर उगनेवाले प्रभात की आभा चमक रही थी।

---

[१] २५ सितंबर, १९२५

[२] १६ जुलाई, १९२९

२६ दिसम्बर, १९३१ में उनकी ७०वीं वर्षगांठ के समारोह के अवसर पर टाउनहाल, कलकत्ता में आयोजित एक आम सभा के अध्यक्ष-पद का सम्मान मुझे मिला था, जिसमें दूर और पास के अनेक व्यक्ति, विश्वविद्यालयों और शिक्षण-संस्थाओं के प्रतिनिधि, कलाकार, विद्वान्, भारत और यूरोप के शिक्षा-शास्त्री—सभीने इस महान् कवि की उदात्त भावना, उसके गद्य और पद्य, उसके गीत और नाटक, उसकी देशभक्ति और समाज-सेवा, आध्यात्मिक स्वतंत्रता, भौतिक उन्नति और राष्ट्रीय आत्म-सम्मान के विकास में उसके प्रभावशाली कार्य के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की थी।

सन् १९३३ में जब मैं आंध्र-विश्वविद्यालय का उपकुलपति था, मैंने टैगोर को वाल्टेयर में अपने स्वर्गीय मित्र श्री अल्लादि कृष्णस्वामी द्वारा स्थापित अनुदान (एनडाउमेंट) के मातहत भाषण देने को निमंत्रित किया। उन्होंने ८, ९ और १० दिसम्बर को तीन भाषण दिये जो 'मानव' (Man) शीर्षक से प्रकाशित हुए। २ दिसम्बर, १९३४ को वाल्टेयर में ही मुझे पुनः टैगोर के स्वागत का सुअवसर मिला, जबकि उन्होंने विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के सामने अपना भाषण दिया; और उस अवसर पर शांतिनिकेतन के छात्र-छात्राओं ने एक-दो नाटकों का प्रदर्शन भी किया।

जब प्रोफेसर जे० एच० म्यूरहेड और मैंने 'लाइब्रेरी ऑव फिलोसाफी में' 'समकालीन भारतीय दर्शन' (Contemporary Indian Philosophy) पर एक अंक निकालने का निश्चय किया, तब टैगोर से भी एक लेख देने की प्रार्थना हमने की। बहुत हिचकिचाहट के बाद उन्होंने मेरे पास दो लेख भेजे, जिनका हमने उस अंक में उपयोग किया। सन् १९३६ में मैंने उनके पास ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में दिये अपने उद्घाटन-भाषण की एक प्रति भेजी। इसकी तथा 'समकालीन भारतीय दर्शन' की प्रति पाकर उन्होंने लिखा : "आपके उद्घाटन-भाषण को पढ़कर मुझे बड़ी खुशी हुई, जिसकी एक प्रति आपने कृपा करके और विचारपूर्वक मेरे पास भेज दी। मैं समझता हूं कि भारत में आज अंग्रेजी के भ्रमणशील उपदेशकों तथा प्रोफेसरों की भरमार है। मेरे लिए आशा की बहुत बड़ी बात यह है कि आप[1] वहां हैं।

"मुझे 'दर्शन-संकलन' (Philosophy Compilation) की भी एक प्रति प्राप्त हुई, पर मुझमें छिपे कवि को दार्शनिकों की संगति से कुछ बेचैनी-सी होती है। क्योंकि मुझे विश्वास है कि उनके लिए बीच में घुस आनेवाले इस (कवि को) को सहन करना कठिन होगा।"[2]

---

[1] रेखांकन टैगोर द्वारा किया गया है।

[2] २३ नवम्बर, १९३६ को लिखे पत्र से

सितम्बर, १९३८ में मुझे शांतिनिकेतन जाने का अवसर मिला। उन्होंने मुझे वहां के शिक्षकों और विद्यार्थियों के सामने कुछ बोलने को कहा। उस भाषण के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा—

"मुझे इस बात से बड़ी खुशी है कि हमारे विद्यार्थियों को आपके संपर्क में आने का अवसर मिला और उन्हें आपके मौलिक विचार तथा सुन्दर भाषण की बहुमूल्य भेंट मिली। मैं आपके आकर्षक भाषण की इस स्मृति पर अपनी नीरस तथा सामान्य बातों का आवरण नहीं डालना चाहता। आपने हमारे निमंत्रण को कृपा कर स्वीकार किया और आश्रम में आये, जिसे मैं लम्बे चालीस वर्षों से, सीमित साधनों और जनता के अल्प सहयोग के बावजूद अपने प्रेम और जीवन से सींच रहा हूं। इसीका सबसे अधिक मूल्य है। इस कृपा के लिए मैं केवल धन्यवाद दे सकता हूं।

"दुर्भाग्य से मेरा जन्म बंगाल में हुआ है, जो अपने असाधारण अभिमान के कारण किसी भी अच्छे कार्य या गुण को, जिसे पूरा करने के लिए मानव-सहानुभूति की अत्यन्त आवश्यकता होती है, मान्यता देनें में सदा उदासीन रहता है। जो हो, मेरे जीवन का यह उत्तरकाल है और मैं अपने भाग्य से अब अधिक अपेक्षा नहीं कर सकता। मेरा दावा केवल उस कलाकार के जैसा है, जो आपके-जैसे आगन्तुकों से पुरस्कृत होता है और जिसे यह जानकर कि वह आपको प्रसन्न कर सका, परम संतोष होता है।"

अपने जीवन के उत्तरकाल में जिस बात से टैगोर को विशेष प्रसन्नता हुई, वह थी ऑक्सफोर्ड-यूनिवर्सिटी द्वारा उन्हें 'डॉक्टर ऑव लेटर्स' की सम्मानित उपाधि देने का निर्णय। कुछ वर्ष पहले जब यह प्रस्ताव रक्खा गया था तब लार्ड कर्जन ऑक्सफोर्ड-यूनिवर्सिटी के कुलपति थे और जब उनसे परामर्श किया गया तो उन्होंने कहा था कि भारत में टैगोर की अपेक्षा और अधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं।[1] किन्तु ऑक्सफोर्ड भी परिवर्तनशील है। कुछ वर्ष बाद जब लार्ड हेलिफैक्स कुलपति हुए तो उन्हें यह विचार पसन्द आया। टैगोर ने उपाधि को निस्संकोच ही नहीं, गरिमा के साथ स्वीकार किया। ऑक्सफोर्ड पाश्चात्य जगत् का प्रतिनिधि है और

[1] "फॉक्स स्टेंगवेज चाहते थे कि ऑक्सफोर्ड या कैम्ब्रिज टैगोर को सम्मान के रूप में उपाधि दें। लार्ड कर्जन से जब सलाह ली गई तो उन्होंने कह दिया कि भारत में टैगोर से अधिक गण्यमान्य व्यक्ति हैं। मुझे अचरज हुआ कि आखिर वे हैं कौन-से लोग! और मुझे इस बात का खेद हुआ कि इंग्लैण्ड ने एक विदेशी राष्ट्र को यह अवसर प्रदान किया कि वह टैगोर के साहित्यिक योगदान को सर्वप्रथम मान्यता दे।"
'मेन ऐण्ड मेमोरीज़—रिकॉलेक्शन्स ऑफ विलियम रोथेन्स्टीन', १९००-१९२२ (१९३२), पृष्ठ २६६

टैगोर शांतिनिकेतन का पश्चिम के साथ नाता जोड़ने को उत्सुक थे, इसलिए उन्होंने शांतिनिकेतन में उपाधि ग्रहण की। "मेरी यह उत्कट इच्छा है कि यह समारोह शांतिनिकेतन में हो, जो मेरे जीवन-भर के कार्यों का प्रतीक है, और जिसे संभवतः अब भारत में शिक्षा-केन्द्र के रूप में अधिक व्यापक मान्यता मिल सके। मेरी धारणा है कि ऑक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय और शांतिनिकेतन के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन आदर्शों की प्राप्ति में सहायक होगा, जिन्हें हम संकीर्णता और अनुदार भावनाओं से त्रस्त संसार में स्थापित करना चाहते हैं।"[१]

ऑक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय ने स्व० सर मारिस ग्वायर और मुझे विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि बनाकर शांतिनिकेतन में दीक्षान्त-समारोह का आयोजन करने और सम्मानित डाक्टर की उपाधि देने का आदेश दिया। ७ अगस्त, १९४० के दिन दीक्षान्त-समारोह मनाया गया। इस स्मरणीय समारोह में भाग लेना मेरे लिए बड़े गौरव की बात थी। उपाधि ग्रहण करते हुए कविवर ने कहा—

> "ऑक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय के प्रतिनिधिगण, मुझ भारतीय कवि को सम्मानित करके आपके प्राचीन विद्या-केन्द्र ने अपनी नम्रता की परम्परा को अभिव्यक्त किया है। इस परम्परा का महत्त्व आज बहुत ही गहरा हो गया है। मुझे इसका संदेश और उसमें निहित मान्यता स्वीकार करने में गौरव का अनुभव हो रहा है। यह वास्तव में मानव की अमर आत्मा का प्रतीक है। मैं शांतिनिकेतन में आप सबका स्वागत करता हूं और मैं यह विश्वास दिलाता हूं कि जो मैत्रीपूर्ण उपहार आप मेरे और मेरे देश के लिए लाये हैं, इसका स्थान हमारे दिलों में बना रहेगा और संस्कृति के संरक्षण में हम मिल-जुलकर काम कर सकेंगे।
>
> "ऐसे युग में, जब क्रोध की ज्वाला धधक रही है, तत्त्वों का मूल्य घट रहा है और देशों तथा भूखंडों में बर्बरता और विज्ञान द्वारा प्रोत्साहित सब-कुछ हड़प लेने की लिप्सा का नग्न तांडव हो रहा है, हो सकता है विश्वव्यापी सम्बन्धों की चर्चा करना एक विडम्बना हो। किन्तु काल की हिंसा, चाहे वह कितनी ही भयंकर हो, सीमाबद्ध होती है। और हम लोगों को, जो कालातीत हैं और काल की वास्तविकता के बीच रहते हैं, अन्तिम ध्येय की प्राप्ति के लिए शाश्वत सभ्यता के विकास में अपनी आस्था को दृढ़ करना चाहिए।
>
> "ऑक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय द्वारा दी गई इस मान्यता को मैं भावी युग के शुभ लक्षण के रूप में स्वीकार करता हूं। यद्यपि उस युग को देखने के लिए मैं जीवित नहीं रहूंगा, फिर भी शुभ दिनों के पूर्वाभास के रूप में मैं इसे मैत्रीपूर्ण संकेत के रूप में स्वीकार करता हूं।"

---

[१] ९ मई, १९४०

इन शब्दों में कवि रवीन्द्र ने उन शाश्वत सत्यों में अपनी आस्था अभिव्यक्त की, जो नवयुग के लिए अखिल मानवीय आशाओं के आधार हैं। मानव-जाति एक परिवार है। जो आदमी आत्मिक शौर्य और मानसिक सरलता का जीवन व्यतीत करते हैं, वे ऐसे देश में रहते हैं, जो सभी देशों से ऊपर है और जिसमें सभी देशों और जातियों के लोग सम्मिलित हैं। टैगोर की विश्वभारती और ऑक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय सत्य-निष्ठा और विचार-स्वातंत्र्य को उभारते ही नहीं, बल्कि भव्यता, सौन्दर्य, शक्ति और आनन्द आदि गुणों पर बल देते हैं।

अपने जीवन के अन्तिम समय में कुछ वर्षों तक कविवर का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा। जुलाई, १९४१ में जब उनकी हालत खराब हो गई, तब उन्हें कलकत्ता ले जाया गया। ऑक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय द्वारा उपाधि दिये जाने के ठीक एक वर्ष बाद गुरुवार, ७ अगस्त के दिन को भारतीय पुनर्जागरण की सबसे महान विभूति, जिसने अपने जीवन से जग को आलोकित किया, लुप्त हो गई और देश-भर में अंधेरा छा गया। वह उन असाधारण पुरुषों में थे, जिनके बारे में अतिरंजन के बिना यह कहा जा सकता है कि न उनकी पीढ़ी और न कोई आनेवाली पीढ़ी उनके समान कोई पुरुष पैदा करेगी। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के थोड़े-से प्रतिनिधियों में रवीन्द्रनाथ एक थे और भावी विश्व निस्संदेह ऐसे ही लोगों का है।

—स० राधाकृष्णन

नई दिल्ली,
१७ अप्रैल, १९६१

प्रथम संस्करण की भूमिका

पुस्तक स्वयं अपनी परिचायक है। रवीन्द्रनाथ की कृतियों की लोकप्रियता यह दर्शाती है कि आत्मा के साम्राज्य में न पूर्व है और न पश्चिम; तथा उनकी रचनाएं सामान्य आवश्यकता को पूरा करती हैं और विश्व की मांग को संतुष्ट करती हैं। प्रश्न है कि विश्व की मांग क्या है? और वह कैसे पूरी हो सकती है? इस पुस्तक में इस प्रश्न का उत्तर देने का मैंने प्रयत्न किया है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर के दर्शन और संदेश की व्याख्या दर्शन, धर्म और कला के भारतीय आदर्श की व्याख्या है, जो उनकी कृतियों में अभिव्यक्त हुआ है। हम नहीं जानते कि यह धड़कन रवीन्द्रनाथ के अपने हृदय की है या भारत का हृदय है जो इनमें स्पन्दित होता है। उनकी कृतियों में भारत ने अपने खोये हुए उस शब्द को पाया है, जिसकी उसे खोज थी। भारतीय दर्शन और धर्म के ये परिचित सत्य, जिनका गलत मूल्यांकन करना अपनी ही जन्मभूमि में एक फैशन हो गया था, इन कृतियों में ऐसे ऊंचे आदर और गहरी भावना से प्रतिपादित किये गए हैं कि वे एकदम नये प्रतीत होते हैं। भारत की जिस आत्मा से रवीन्द्रनाथ प्रेरणा पाते हैं, उसीके परिचय ने मुझे इसकी व्याख्या करने में सहायता दी है।

इस पुस्तक के विरोध में यह कहा जा सकता है कि लेखक वहां एक सुनिश्चित अर्थ को ढूंढ़ने का यत्न कर रहा है, जहां कोई अर्थ है ही नहीं, और रवीन्द्रनाथ के विचारों से अपने विचारों को उलझा रहा है। यह दोषारोपण एक ऐसा विराट् प्रश्न पैदा कर देता है, जिसकी चर्चा इस भूमिका की सीमा में करना कठिन है। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि रवीन्द्रनाथ पद्य लिखते हैं, जबकि यह पुस्तक गद्य में है। पद्य अनिश्चित और सुझावमूलक होता है, जबकि गद्य सुनिश्चित और व्यंजनात्मक। मैंने यहां कवि के संदिग्ध सुझावों को निश्चित कथनों में बदलकर उन्हें आधार देने का, उनके परिणाम निकालने का, और जहां आवश्यक लगा वहां, पृष्ठभूमि देने का यत्न किया है। यह पुस्तक रवीन्द्रनाथ के दर्शन को उसीके आधारभूत सिद्धान्तों के प्रकाश में व्याख्या करने का प्रयत्न है। मैं यहां इस बात का उल्लेख करना चाहूंगा कि कविवर ने अपने दर्शन के सम्बन्ध में इस व्याख्या की सराहना की है।

पूर्व और पश्चिम में राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ के विचारों के मूल्यांकन के बिना यह पुस्तक पूर्ण नहीं होती, अतः इस विषय पर उनके विचारों का विश्लेषण हमने चौथे और पांचवें अध्याय में किया है। इस मूल्यांकन में हमने

उनकी कृतियों के समीप रहकर उनके आन्तरिक मर्म को समझने का यत्न किया है ।

भूमिका आभार-प्रदर्शन की अधिकारी है । मैं रवीन्द्रनाथ टैगोर का अत्यन्त आभारी हूं कि उन्होंने मुझे इस पुस्तक को उन्हें समर्पण करने की अनुमति प्रदान की । इस महान् पुरुष के नाम से अपनेको सम्बन्धित देखकर जो आनन्द मुझे मिला है, उससे भी अधिक इस छोटे-से संस्करण पर उनके नाम को अंकित करके मैं समझता हूं कि किसी हद तक मैं उऋण हो सका हूं । मैं शान्तिनिकेतन के श्री सी० एफ० एण्ड्रूज का बहुत ही ऋणी हूं, जिन्होंने इसके प्रूफ पढ़ने का कष्ट किया और कई बहुमूल्य सुझाव दिये । मैं 'दि क्वेस्ट' के संपादक को भी धन्यवाद देता हूं, जिन्होंने अपने पत्र में प्रकाशित दो मूल लेखों का उपयोग करने की अनुमति दी ।

—स० राधाकृष्णन्

मद्रास,
मई २७, १९१८

: १ :

रवीन्द्रनाथ टैगोर का दर्शन—१

: १ :

सुविस्तृत जीवन के असीम ज्वार में
वे ही केवल सन्तोष पा सकते हैं,
जो बुराई से भलाई को पृथक् कर सकते हों;
या अज्ञानता में पड़े रह सकते हैं—
इन दोनों के बीच में समग्र व्यग्र पीड़ा है।
तेरे दिव्य पूर्वज्ञान, तेरी दिव्य शक्ति के सामने,
मेरी यह मंद बुद्धि क्या है ?
विद्यालयों में प्राप्त यह सारा ज्ञान क्या है ?
ऋषि, पुरोहित और पांडित्याभिमानी क्या हैं ? मूर्ख !
विश्व तेरा है, तुझसे पैदा हुआ है,
तुझमें यह घटता है, तुझसे यह बहता है।
इसलिए, सांसारिक पांडित्य, किसके द्वारा बुद्धिमत्ता प्रदर्शित की जाती है ?
वह शाश्वत ही जानता है, सबकुछ जानता है, और केवल वही !

१

"एक महापुरुष संसार की भर्त्सना करके उसे बाध्य कर देता है कि वह (संसार) भी उसकी (महापुरुष की) व्याख्या करे।"[१] रवीन्द्रनाथ टैगोर भी पीछे नहीं रहे। उन्होंने भी संसार को बाध्य किया कि वह पत्र-पत्रिकाओं के अनेक लेखों तथा प्रबन्धों द्वारा उनके विचारों का विश्लेषण और विवेचन करे। उनकी कृतियों की जितनी विश्वव्यापी महत्ता तथा लोकप्रियता उनके विचारों की उच्च आदर्शवादिता के कारण है, उतनी ही उनकी शैली की गरिमा और उनके साहित्य की भव्यता के कारण भी। ऐसे समय, जबकि सभ्य संसार विकट युद्ध के महासंकट में से गुजर रहा है, रवीन्द्रनाथ की शिक्षा की आज विशेष

[१] हीगल।

उपयोगिता है—उस शिक्षा की, जिसकी आध्यात्मिक तत्त्वों की संसार-सागर से पार उतारने की शक्ति में पूर्ण आस्था है। युद्ध की यह विभीषका भले ही राष्ट्रों को घृणा और अहंकार की भावना से तथा सम्पत्ति और भूमि की प्रबल लालसा से ऊपर न उठाये, किन्तु यह बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी कि यह विभीषिका भौतिकवाद की पूर्ण असफलता का असंदिग्ध प्रमाण है।

किसीके महान् होने का केवल यही लक्षण नहीं कि वह सर्व-साधारण की चर्चा का विषय हो, किन्तु यह भी लक्षण है कि वह लोगों की भ्रान्त धारणा का विषय बने और रवीन्द्रनाथ इससे बच नहीं सके। उनके साहित्य की व्याख्या के लिए बहुत-से प्रयत्न किये गए, जो परस्पर-विरोधी हैं, क्योंकि कवि के शब्दों के लोग मनचाहे अर्थ लगाते हैं। उनके जीवन-दर्शन के बारे में दो मत हैं। यदि हम एक पक्ष में विश्वास करें, तो वह वेदान्ती हैं—ऐसे विचारक हैं, जिन्हें उपनिषदों से अन्तःप्रेरणा प्राप्त होती है। यदि हम दूसरे पक्ष में विश्वास करें, तो वह ऐसे ईश्वर-वाद के समर्थक हैं, जो ईसाई मत से अभिन्न नहीं तो न्यूनाधिक रूप में उसके समान अवश्य है। रवीन्द्रनाथ का झुकाव पहले मत की ओर है। "उपनिषदों के श्लोक और बुद्ध की शिक्षाएं सदा ही मेरे लिए भावना का विषय रही हैं और इसीलिए वे प्राणमूलक असीम वृद्धि से सम्पन्न रही हैं; मैंने अपने जीवन और प्रवचन—दोनों में उनका उपयोग उस रूप में किया है, जिस रूप में जैसे दूसरों के लिए, वैसे मेरे लिए वे व्यक्तिगत अर्थ से ओतप्रोत रहे हैं और जिस रूप में वे अपने समर्थन के लिए मेरे उस विशेष साक्ष्य की प्रतीक्षा में हैं, जिस साक्ष्य का अपनी वैयक्तिकता के कारण अवश्य ही महत्त्व होना चाहिए।"[२] इस मत के अनुसार रवीन्द्रनाथ का दर्शन भारत की प्राचीन प्रज्ञा ही है, जिसे आधुनिक काल की आवश्यकताओं के अनुरूप व्यक्त किया गया है। उनकी कृतियां आधुनिक युग के एक ऐसे विचारक की उप-निषदों की टीका ही हैं, जिसपर आधुनिक कला की गहरी छाप है। उनमें प्राचीन भारत की आत्मा प्रतिबिम्बित होती है। उनका

---

[२] साधना, पृष्ठ ८

आदर्शवाद भारत के अपने ही अतीत की सच्ची संतति है, और उनका दर्शन उद्गम और विकास दोनों ही दृष्टियों से भारतीय है। डा० कुमारस्वामी के शब्दों में—"रवीन्द्रनाथ टैगोर की विचारधारा आवश्यक रूप से भावना और रूप में तत्त्वतः भारतीय है।" दूसरे मत के अनुसार, रवीन्द्रनाथ टैगोर ने, हिन्दूधर्म के अन्य पुनरुद्धारकों के समान, ईसाई मत और पाश्चात्य विचारधारा से निःसंकोच बहुत-कुछ लिया है, और इन विदेशी तन्तुओं को अपने विश्वास के बाने में बुना है। यदि पश्चिम के प्रति वह अपना आभार स्वीकार नहीं करते तो 'स्पेक्टेटर' के समालोचक के शब्दों में यह 'स्थानीय देशभक्ति', 'कृतघ्नता' और 'पाखण्ड' का उदाहरण है।[1] "हम देखते हैं कि श्री टैगोर ने यूरोप से उधार लिये हुए नीतिशास्त्र की शिक्षा में अपनी असाधारण साहित्यिक प्रतिभा का इस प्रकार प्रयोग किया है, मानो वह नीतिशास्त्र भारत की अपनी ही विशिष्ट चीज है।" "बहुत ऊंची दिखाई देनेवाली उनकी सूक्तियों में पाखण्ड का घातक दोष है।"[2] इन आलोचकों की धारणा है कि रवीन्द्रनाथ की विचारधारा में अन्तर्निहित नैतिकता और दर्शन वास्तव में ईसाई मत से लिये गए हैं। ऐसे आलोचक वेदान्त दर्शन को उस सिद्धान्त से अभिन्न समझते हैं, जिसके अनुसार परमसत्ता निर्गुण-निराकार है, संसार माया है, ध्यान पलायन का साधन है और आत्मा का निर्वाण मानव का अन्त है। स्पष्ट ही ये विचार रवीन्द्रनाथ के नहीं हैं। उन्होंने हमें 'मानवीय' ईश्वर दिया है, संसार के मिथ्यात्व के विचार को घृणापूर्ण शब्दों में अस्वीकार किया है, कर्म की अत्यधिक प्रशंसा की है, और धर्म-परायण आत्मा के लिए जीवन की पूर्णता का विश्वास दिलाया है। ये तत्त्व, ईसाई धर्म की विशेषताएं हैं, और 'रवीन्द्रनाथ टैगोर हैं भी क्या?' यदि वह उस प्रकार के एक विशिष्ट ईसाई नहीं, जैसे ईसाइयों का आगामी वर्षों में अधिकाधिक संख्या में भारतवर्ष में आविर्भाव होना है। श्री के० जे० सौण्डर्स ने कहा है—"गीतांजलि का ईश्वर हिन्दू-दर्शन की अवैयक्तिक, निर्विकार परम सत्ता नहीं है; किन्तु, चाहे वह स्पष्ट रूप से ईसाई मत-सम्मत ईश्वर हो अथवा नहीं, वह तत्त्वतः ईसाई मत के ईश्वर के समान अवश्य है; और उस ईश्वर के भक्त तथा प्रेमी का अनुभव सारे ईसाई

[1]-[2]स्पेक्टेटर, १४ फरवरी, १९१४

लोगों के आस्थावान् हृदयों के आन्तरिक अनुभव से अभिन्न है।"[1] डा. डब्ल्यू० एस० अर्कुहर्ट का कहना है–"उन्होंने पाश्चात्य विचारों के लिए अपने मन के पट खोल दिये और ईसाई धर्म से उन्होंने बहुत-कुछ लिया है, विशेषकर, ऐसे विचार जिनका प्रभाव उनपर गहरा पड़ा है, किन्तु जिन्हें हमेशा स्वीकार नहीं किया गया है। इन विचारों को उन्होंने पूर्वीय जामा पहनाया है, जिसके कारण इन विचारों का वास्तविक उद्गम स्वयं उनकी आंखों और उनके पाठकों की आंखों से ओझल रहा है। यद्यपि सत्य एक है और वह किसी राष्ट्र या स्थान-विशेष की संपत्ति नहीं है, तो भी टैगोर के विचारों के मूल स्रोत की जानकारी न होने से प्राय: ऐसे परिणाम निकले हैं जो स्वयं सत्य के विकास के प्रतिकूल सिद्ध हुए हैं। आधुनिक भारत के बहुत-से विचारकों के विचारों की तरह रवीन्द्रनाथ के विचारों का उद्गम प्रायः अनुचित रूप से भारतीय मान लिया गया है।"[2] श्री ऐडवर्ड जे० टामसन के अनुसार, यह कहना कि 'गीतांजलि' में व्यक्त विचार हिन्दू विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं, 'बेहूदा' बात है। वह लिखते हैं–"वह व्यक्ति, जिसकी गणना आज से संसार के महान् धार्मिक कवियों में होनी चाहिए, वह अपने-आपको ईसाई नहीं कहता, किन्तु उसमें हमें इस बात की स्पष्ट झांकी मिलती है कि भारत में ईसाई धर्म का क्या रूप होगा, और हम देखते हैं कि ईसाई धर्म को भारत में प्राप्त हुआ रूप ईसाई धर्म के मूल रूप से श्रेष्ठतर है।"[3]

आरम्भ में ही अपने मत के लिए दुराग्रह करने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि इस प्रकार तो मुख्य विवादास्पद प्रश्न की टालमटोल हो जायगी। रवीन्द्रनाथ के विचारों की निष्पक्ष व्याख्या से सभी संशयों और मतभेदों का समाधान हो जायगा। उनकी किसी भी कृति में हमें उनके जीवन-दर्शन की व्यवस्थित व्याख्या नहीं मिलती। 'साधना' भी प्रवचनों, रहस्यपूर्ण उक्तियों और सम्भवतः चिंतनों का एक संग्रह है।

[1] इण्टरनेशनल रिव्यू ऑव मिशंस, १९१४, पृष्ठ १४९

[2] दि फिलासाफिकल इनहेरिटेंस ऑव रवीन्द्रनाथ टैगोर, इण्टरनेशनल जर्नल ऑव ऐथिक्स, अप्रैल १९१६, पृष्ठ ३९८

[3] क्वार्टली रिव्यू, अक्तूबर १९१४, पृष्ठ. ३३०

यह उनके अध्यात्मशास्त्र का तर्कसंगत विवरण नहीं, अपितु आत्मा का क्रन्दन है; यह व्यवस्थित दर्शन नहीं, वरन् इसमें जीवन-दर्शन का वातावरण है। किन्तु हम अनुभव करते हैं कि वातावरण वास्तविकता के विशिष्ट दिव्य दर्शन से ओतप्रोत है। जिन कविताओं में उनकी आत्मा की अचेतन अभिव्यक्ति, उनके भक्तिपूर्ण हृदय के उद्गार और उनकी काव्यमयी चेतना का उद्घाटन है, उनमें उनका व्यक्तित्व पूर्णतया प्रतिफलित हुआ है। उनकी कृतियों में निश्चय ही उनकी बौद्धिक धारणाओं की रूपरेखा विद्यमान है। यद्यपि कविता दर्शन से भिन्न है, फिर भी रवीन्द्रनाथ की काव्य-कृतियों से उनके दार्शनिक विचारों तक पहुंचना संभव है।

२

मानव-जीवन के विरोधाभासों और असंगतियों ने मानव को सत्य की खोज के लिए प्रेरित किया। मानव एक सीमित असीम सत्ता है। इसमें आत्मा और प्रकृति समन्वित हैं। वह पृथ्वी का पुत्र है, किन्तु स्वर्ग का उत्तराधिकारी है। "सत्ता के एक ध्रुव की दृष्टि से मैं लक्कड़ों और पत्थरों से··· अभिन्न हूं किन्तु अपनी सत्ता के दूसरे ध्रुव की दृष्टि से मैं इन सब प्राकृतिक उपादानों से पृथक् हूं।"[१] घटनाओं की प्रकृत श्रृंखला की एक कड़ी होने के कारण मानव आवश्यकता के नियम के अधीन है; उद्देश्यों के आध्यात्मिक जगत् का सदस्य होने के नाते वह स्वतंत्र है। विज्ञान, कला और नैतिकता में पाये जानेवाले इस विरोधाभास के स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। व्यक्ति पूर्णरूप में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' में से प्रत्येक की आकांक्षा से प्रेरित होता है; सीमित जगत् में वह उनके निकट तक तो पहुंच सकता है, किन्तु पूर्ण रूप से उन्हें पा नहीं सकता। हम इन आदर्शों को धुंधली दृष्टि से देख सकते हैं। बौद्धिक दृष्टि से हम सत्य के उस आदर्श को पाना चाहते हैं जो पूर्ण, सुसंगत और सर्वव्यापक हो। बिखरे हुए तथ्यों का संसार सीमित और सप्रतिबंध है। विश्लेषण और व्यवच्छेदन की अपनी प्रवृत्तियों के कारण बुद्धि समस्त को ग्रहण करने में असमर्थ रहती है। नैतिकता के क्षेत्र में हमें

[१] साधना, पृष्ठ ६९; फ्रूट गैदरिंग, ३३

आदर्श महत्त्वाकांक्षाओं और वास्तविक तथ्यों के बीच खाई अनुभव होती है। भीतरी असीम और निम्न सीमित के बीच संघर्ष रहता है। भीतरी असीम आत्मा को आदर्श की ओर प्रेरित करता है और निम्न सीमित, बीते विकास-क्रमों की विरासत है। "हे सर्वोपरि ब्रह्म, तेरी वंशी की तीव्र पुकार में भूल जाता हूं; हमेशा भूल जाता हूं कि उस घर के सारे द्वार, जिसमें मैं अकेला रहता हूं, प्रत्येक स्थान पर बन्द रहते हैं।"[1]

उच्च सत्ता और निम्न सत्ता के बीच तनाव है। इन दोनों तत्त्वों में एकात्मता स्थापित नहीं हो सकी। उच्चात्मा हमारे सामने नैतिक आदर्श प्रस्तुत करती है, जिसे हम ठीक समझते हैं; किन्तु हमारी वास्तविक निम्न आत्मा उसके उच्च जन्म का विरोध करती है और ऐन्द्रियिक सुखों के प्रति आकर्षित करती है। गीतांजलि (२८) में इस संघर्ष का वर्णन किया गया है :

दृढ़ हैं पाश, किन्तु मेरा मन खिन्न होता है जब उन्हें मैं तोड़ने का प्रयत्न करता हूं।

स्वतंत्रता ही सबकुछ है जिसे मैं चाहता हूं; किन्तु इसके लिए आशा करके मैं अपनेको लज्जित अनुभव करता हूं।

मुझे निश्चय है कि अमूल्य सम्पदा तुझमें है और तू मेरा सर्वश्रेष्ठ मित्र है, पर इन भड़कीली वस्तुओं को बुहार कर बाहर फेंकने का उत्साह नहीं होता, जिन्होंने मेरे कमरे को भरा हुआ है।

जो आवरण मुझ पर पड़ा है, वह धूलि का आवरण है, मृत्यु का आवरण है; मैं इससे घृणा करता हूं, तो भी इसे प्यार से हृदय से लगाता हूं।

मेरे ऋणों का अन्त नहीं, मेरी विफलताएं बड़ी हैं, मेरी लज्जा गुप्त और भारी हैं; तो भी जब मैं कल्याण की भिक्षा मांगने आता हूं, मैं इस डर से कांपता हूँ कि कहीं मेरी प्रार्थना स्वीकार न कर ली जाय।[2]

---

[1] दि गार्डनर, ५-६

[2] ये पंक्तियां हमें सेंट ऑगस्टीन के 'कन्फेशन्स' (स्वीकारोक्तियों) के इस श्रेष्ठ उद्धरण की याद दिलाती हैं—"जब घोर निद्रा अंगों पर छा रही होती है, तब प्रायः मनुष्य उसे झकझोर कर दूर कर देता है; और जब उसे पसंद नहीं कर रहा होता, तब उसे उत्साहित करता है। इसी

यदि हम उच्चात्मा के साथ अपने-आपको एकरूप भी कर लें और निम्नात्मा से युद्ध ठान लें, तो हमें प्रायः अपनी हार माननी पड़ती है। प्राकृतिक शक्तियां नैतिक शक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक बलवती सिद्ध होती हैं। ऐसे संताप से पीड़ित सीमित पुरुष पूछता है, "क्या नैतिक आदर्श एक स्वप्न है और क्या मैं मूर्ख हूं, जो इसके लिए प्रकृति की महान शक्तियों के विरुद्ध लड़ता हूं ? क्या मेरी विजय की लेश-मात्र भी आशा है अथवा मेरे भाग्य में पराजय ही बदी है ! सत् और असत्, शिव और अशिव के बीच जो संघर्ष हो रहा है, उसका निर्णय करनेवाली कोई उच्चात्मा है, जिसपर मैं भरोसा कर सकता हूं, अथवा इसमें हार-जीत केवल संयोग पर निर्भर करती है ? प्रज्ञावान प्राणी होने के कारण मानव इस समस्या के व्यावहारिक हल के लिए तड़पता है। जबतक निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं होता है, संसार के भयावह अन्याय और असत् से व्यथित सीमित आत्मा निराशा-भरे क्रोध से हाथ मलती है और परमात्मा के सम्मुख करुण क्रन्दन करती है—अपनी रक्षा के लिए अब मैं क्या करूं ? क्योंकि मैं निकृष्ट पुरुष हूं, इसलिए इस मृत्यु के शरीर से मुझे कौन बचायेगा ? सीमित जीवन के विरोध यह स्पष्ट कर देते हैं कि सीमित पुरुष संसार में परिपूर्ण प्राणी नहीं है; अपितु वह ऐसी अपूर्णता है, जिसे पूर्णता की आवश्यकता है। यही कारण है कि ऐसे दर्शन की आवश्यकता अनुभव की जाती है, जो जीवन के इन आरंभिक तत्त्वों में, आत्मा और अनात्मा में, मेल बैठाये।

तरह यद्यपि मुझे निश्चय था कि अपनी लालसाओं के सम्मुख झुकने की अपेक्षा मेरे लिए तेरे प्रेम के सम्मुख समर्पण करना अच्छा है, तो भी यद्यपि पिछले मार्ग ने मुझे विश्वास दिलाया, किन्तु पहले मार्ग ने मुझे आनन्दित किया और वैसा करने नहीं दिया।" 'जाग, ऐ सोनेवाले'—तेरी इस पुकार का उत्तर देने के लिए मुझमें कुछ नहीं है; किन्तु मेरे पास तो बहुत देर लगाकर उनींदी अवस्था में बोले हुए, 'अभी, हां अभी; तनिक देर रुकिये' केवल ये ही शब्द हैं। किन्तु 'अभी' में अब नहीं था, और 'तनिक देर' लम्बा समय हो गई; क्योंकि मुझे भय था कि तुम मुझे तुरंत सुन लोगे और मेरी लिप्सा के रोग का तुरन्त उपचार कर दोगे, जिस लिप्सा को मैं बुझा हुआ देखने की अपेक्षा परितृप्त करना चाहता था।" (कन्फेशंस, ११वां)

३

यदि जो कुछ हमें बुद्धि बताती है वह सत्य है, यदि संसार अकस्मात् एकत्र हुए ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो प्रकृति से संघर्ष करने और उसपर विजय पाने का यत्न तो कर रहे हैं किन्तु सफल नहीं हुए, तो बुद्धिमान लोगों के लिए समझदारी की बात यह है कि वे संसार से विरक्त हो जायें और एकान्त में बैठकर उदात्त आदर्शों की उपासना करें, भले ही विश्व विनाश के गर्त में चला जाय। अपने प्रसिद्ध लेख 'दि फ्री मेन्स वर्शिप' में बर्ट्रेण्ड रसल ने इस प्रवृत्ति का जोरदार शब्दों में प्रतिनिधित्व किया है : "मानव उन कारणों की उपज है, जिनमें उस ध्येय का पूर्वदर्शन नहीं था, जिस आदर्श को वे प्राप्त करना चाहते थे; मानवका उद्गम, उसका विकास, उसकी आशाएं और आकांक्षाएं, उसके स्नेह और उसकी आस्थाएं अणुओं के केवल आकस्मिक मिलन का परिणाम है; कितना भी उत्साह, कोई भी पराक्रम, विचार तथा भावना की कितनी भी प्रबलता मानव को इस जीवन से परे बने रहने की क्षमता नहीं दे सकती, या युगों-युगों के सभी प्रयत्न, समस्त भक्ति और प्रेरणा, मानव की मध्याह्न की धूप-जैसी चमकीली प्रतिभा इन सभीको अन्त में अवश्य ही सौर जगत् में लीन होना है, और मानव की सफलताओं का सम्पूर्ण मंदिर अनिवार्य रूप से विश्व के सर्वनाश के मलबे के नीचे दब जायगा—ये सब बातें यद्यपि एकदम निर्विवाद नहीं हैं, तो भी इतनी अधिक निश्चित हैं कि कोई भी दर्शनशास्त्र, जो इस सच्चाई की अवहेलना करता है, अपना अस्तित्व बनाये रखने की आशा नहीं कर सकता।"[1] "सत् और असत् के प्रति उदासीन, विनाश के संबंध में असावधान, सर्वशक्तिमान स्थूल द्रव्य निर्दयता के मार्ग पर अबाध गति से चलता रहता है।"[2] आध्यात्मिक मनोदशाएं मानवीय उच्च आकांक्षाओं के मूल्य को स्वीकार करती हैं और मनुष्यों से यह आशा करती हैं कि वे उन आदर्शों का मनन करें, जो मनुष्य-मात्र के लिए पवित्र हैं। नियति के विधान से बचने का उपाय यही है कि मानव को उन बन्धनों को त्याग देना चाहिए, जो उसे बाह्य जगत् से बांधते हैं। श्री रसल ने अनुरोध

---

[1] फिलासाफिकल ऐसेज, पृष्ठ ६०-६१

[2] फिलासाफिकल ऐसेज, पृष्ठ ७०

किया है कि "हमें निजी सुख के प्रयास को छोड़ देना चाहिए और शाश्वत तत्त्वों के लिए आवेग पैदा करनेवाली अस्थायी इच्छा को भी त्यागना चाहिए। यही सच्ची मुक्ति है, यही स्वतंत्र मानव की उपासना है।"[1] सभी युगों के निराशावादी लोग इच्छाओं के त्याग और भीतरी स्वाधीनता की प्राप्ति का आग्रह करते आये हैं। संसार विरोधों से भरा है और मानव-जीवन एक बहुत बड़ी असंगति है। बाह्य जगत् इतना कुटिल दिखाई देता है कि मानव बरबस आत्मा की गहनतम परतों में जा घुसता है। इसके परिणामस्वरूप एक प्रकार के पारलौकिक रहस्यवाद का जन्म होता है, जो प्रकृति और मानव, दोनों से ही घृणा करता है। पूर्ण ब्रह्म विश्व से एकदम भिन्न और सीमित जगत् से सर्वथा प्रतिकूल बताया जाता है। सीमित जगत् की जिन विशेषताओं से हम परिचित हैं, उनका ब्रह्म में सर्वथा अभाव है। केवल यही सत्य है और संसार असत्य––इस प्रकार का बुद्धिवादी दर्शन पूर्ण ब्रह्म को सर्वथा निराकार, संसार को माया, ज्ञानयोग को मुक्ति का उपाय, और आत्मा के निर्वाण को मानव का उद्देश्य बना देगा; किन्तु उस समय परम सत्ता ऐसे संकट की स्थिति में पड़ जायगी जिससे उसका संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। यह मत मनुष्य की पराजय या खिन्नता की स्वीकृति है और यह उसकी सच्ची आवश्यकताओं को कभी पूरा नहीं कर सकता। कुछ ऐसे लोग हैं, जो हमें आत्मा और अनात्मा, औचित्य और पशु-बल––इन शक्तियों के संघर्ष के बीच पशु-बल और छल-कपट की ओर झुकने की सलाह देते हैं। पृथ्वी का ईश्वर बल और प्रतिशोध का ईश्वर है, औचित्य और सद्विवेक का नहीं। यह मत इतना असंगत है कि इसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना समय नष्ट करना है।

एक दूसरा मत पश्चिम में प्रचलित है, जो मानव की धार्मिक आवश्यकताओं पर विशेष रूप से बल देता है। इसके अनुसार आत्मा और अनात्मा परस्पर-विरोधी हैं। "पश्चिम इस विचार पर गर्व करता दीखता है कि वह प्रकृति पर नियंत्रण कर रहा है, मानो हम एक ऐसे प्रतिकूल संसार में रह रहे हैं, जहां हमें अपने लिए सभी आवश्यक वस्तुएं

---

[1] फिलासाफिकल ऐसेज, पृष्ठ ६९

विपरीत परिस्थितियों या अनिच्छुक हाथों से छीननी पड़ती है।"[१] प्राकृतिक जगत् ऐसी दुर्दमनीय शक्ति मानी गई है, जो प्रतिरोध में कठोर है और समर्पण में मन्द। प्रकृति से अपने युद्ध में मानव को ईश्वर की सहायता की आवश्यकता है। मानव-जाति के साथ ईश्वर भी असत् और अन्धकार की शक्तियों पर विजय के लिए संघर्ष-रत है। इस प्रकार की सभी धारणाएं अन्त में ईश्वर को सामान्यतया सीमित पुरुष बना डालती हैं। अपनी प्रसिद्ध कृति 'थ्योडिसी' में लाइबनीस ने ईश्वर को सीमित बना दिया है। वह कहता है कि वर्तमान जगत् सभी संभव जगतों में श्रेष्ठ है। स्पष्ट है कि ईश्वर के लिए समस्त विश्वों को उत्पन्न करना संभव नहीं था, उसने यथासम्भव सर्वोत्तम विश्व को चुनकर उसकी सृष्टि की, और तब पता लगा कि यह जगत् भी पूर्ण रूप से दोषरहित नहीं। जे० एस० मिल भी अपने 'ऐसे ऑन रिलिज़न' में सीमित ईश्वर का समर्थक है। विलियम जेम्स, एफ० सी० एस० शिलर और हेस्टिंग्स रेशडल एक सीमित और व्यक्तिगत ईश्वर को मान लेते हैं। ये सब विचारक विश्व के सम्बन्ध में अनेक को मानते हैं और सृष्टि प्रक्रिया की एकता की व्याख्या करने में असमर्थ हैं। ऐसे ईश्वर

---

[१] साधना, पृष्ठ ५। ऐबरडीन के प्रोफेसर बेली इस मत से सहमत हैं। और उनका विचार है कि धर्म-प्रधान एशिया तथा विज्ञान-प्रधान यूरोप की मनोवृत्तियों के विशिष्ट भेदों का अन्तिम रूप से निरूपण 'मनुष्य तथा वातावरण-सम्बन्धी' उनके दृष्टिकोणों के भेदों के आधार पर किया जा सकता है। उन्होंने लिखा है: "भूमंडल की कुछ जातियों में पाई जानेवाली संसार-विषयक विशिष्ट मनोवृत्ति के कारण विज्ञान-सम्बन्धी आन्दोलन ने जन्म लिया; और इस मनोवृत्ति के बिना विज्ञान सदा एक जिज्ञासा या असंगति ही प्रतीत होता। थोड़े-से शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि इस मनोवृत्ति का कारण संसार से मनुष्य की अनासक्ति की भावना है। यह भावना उस भावना से कुछ विपरीत है और बाह्य है, जिस भावना के अनुसार बाह्य प्रकृति की प्रक्रिया की अपेक्षा मनुष्य के उद्देश्य अधिक श्रेष्ठ हैं। पूर्व के लोग वैपरीत्य की भावना का अनुभव नहीं करते; वे अपनेको विश्व का वैसा ही अविभाज्य अंश समझते हैं, जैसे कि एक पौधा अपने वातावरण से अविभाज्य है। यह बात इस सीमा तक सत्य है कि मानव-जीवन संसार के विशालतर जीवन की नदी की धारा का ही अंश समझा जाता है।" ('हिब्बर्ट जरनल', अप्रैल १९१७, पृ० ३६३)

पर, जो असत् के विरुद्ध बराबर संघर्ष में लीन है और जिसे सफलता के लिए मानव की आवश्यकता है, कोई भी धर्म अन्तिम रूप से निर्भर नहीं हो सकता। हम संघर्ष के परिणाम के बारे में निश्चिन्त नहीं हो सकते। यह सर्वथा संभव है कि ऐसा ईश्वर, जो असत् से जूझने के कारण सीमित है, मानव की तरह अपने उद्देश्य में पराजय का भागी हो जाय; इतना ही नहीं यदि केवल मानव ईश्वर की सहायता के बावजूद असफल रहता है तो वह वास्तव में उस मनुष्य की भारी असफलता है। वह हार और भी अधिक भयानक होगी, यदि परमात्मा ने उस पक्ष का त्याग न किया जिस पक्ष में मानव है। सीमित ईश्वर धर्मनिष्ठ आत्मा को संतुष्ट नहीं कर सकता। वह भी उन असंख्य प्राणियों में एक है, जो मनुष्य-जैसी सीमाओं के अधीन हैं। ईश्वराधिष्ठित मानवता तथा ईश्वर-विरोधी शक्ति के नेतृत्व में चलने वाली प्रकृति—इन दोनों के बीच खाई बहुत गहरी है । जबतक किसी सिद्धान्त को सार्वभौम शक्ति प्राप्त नहीं होती, तबतक निराशावाद का आधार दृढ़ है। विजय के विश्वास, उल्लास तथा आशा के बिना मानव विरोधी शक्तियों का मुकाबला कैसे कर सकता है! अज्ञात और अज्ञेय शक्ति न जाने क्या कर दे—इस भय से उसके जीवन में संशय और दुःख, निर्बलता और विक्षेप ही प्रधान रहेंगे। केवल सार्वभौम सिद्धान्त ही मानव को इस निराशाजनक स्थिति से बचा सकता है। पूर्ण ब्रह्म अपनी सम्पूर्णता में विश्व है, वह संपूर्ण परिपूर्णता है, जिसमें सत् और असत् का विरोध छिप जाता है। इसके विपरीत सीमित ईश्वर का विश्व के एक अंग—शिव के साथ ही तादात्म्य किया जा सकता है, जबकि अशिव का अस्तित्व स्वतंत्र बना रहता है। ईश्वर सद्गुणियों का सद्गुण है और उसका विरोध करनेवाली एक और शक्ति है—दुष्ट लोगों की दुष्टता। ईश्वर पूर्ण ब्रह्म का केवल एक रूप है, जो गहरी वास्तविकता की एक झलक है। आधुनिक ईश्वरवाद इस कठिनाई से परिचित है, इसलिए वह ईश्वरीय अन्तर्व्याप्तिता पर बल देता है, और इस प्रकार वैयक्तिक ईश्वर का पूर्ण ब्रह्म में समावेश करता है।[1] ये मत, जो यहां दिये गए

[1] देखिये डा० कैम्पबेल द्वारा संकलित तथा ऑक्सफोर्ड-विचारकों द्वारा लिखित 'न्यू थिआलाजी, ऐण्ड फाउण्डेशंस', विशेष रूप से डा० मोब्रली के निबंध।

हैं, 'संसार को ठीक प्रकार से नहीं समझते', और इसी कारण परमात्मा का दार्शनिक समन्वय प्रस्तुत नहीं करते; क्योंकि किसी भी सच्चे समन्वय में मानव और प्रकृति में पूर्ण विभाजन नहीं हो सकता। हमें ऐसा सिद्धान्त चाहिए, जो इन दोनों से ऊपर हो, और जो आत्मा तथा अनात्मा प्रत्येक को उचित स्थान और उचित महत्त्व दे और उनके आपसी सम्बन्धों में सामंजस्य स्थापित करे—समन्वय का ऐसा सिद्धान्त; जिसमें ये दोनों तत्त्व समाविष्ट हों और जिसमें दोनों का प्रतीयमान विरोध पास्परिक सम्बन्ध तथा एकता में परिवर्तित हो जाय।

गम्भीर अध्ययन से हम प्रकृति तथा आत्मा, अनात्मा तथा आत्मा के बीच एक स्वाभाविक सम्बन्ध पाते हैं। हम प्रकृति को जान सकते हैं, उसकी व्याख्या कर सकते हैं, उसकी प्रशंसा कर सकते हैं, उससे लड़कर उसपर विजय पा सकते हैं—यह बात इसका प्रमाण है कि प्रकृति का मानव-चेतना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। "हम अपनी परिस्थितियों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित न कर पाते, यदि वे परिस्थितियां हम से पूर्णतया भिन्न तथा हमारे लिए एकदम परकीय होतीं।" "मानव प्रतिदिन सफलता प्राप्त कर रहा है और यह इस बात का प्रमाण है कि उसमें और प्रकृति में तर्कसंगत सम्बन्ध है; क्योंकि हम किसी भी ऐसी वस्तु को आत्मसात् नहीं कर सकते, जो यथार्थतः हमसे सम्बन्धित न हो।" यदि हम मानव को प्रकृति से अलग कर दें 'तो यह कली को फूल से पृथक करने के बराबर होगा और उन दोनों के सौन्दर्य का श्रेय दो विभिन्न और परस्पर-विरोधी तत्त्वों को देने के समान होगा। "भारतीय मनःचेतना को प्रकृति के साथ वंशानुगत संबंध और समस्त सृष्टि के साथ अटूट सम्बन्ध स्वीकार करने में कभी संकोच नहीं हुआ।"[१] भारत में, जहां सभ्यता प्रकृति के समीपस्थ वनों में विकसित हुई, वहां प्रकृति और मानव के बीच विरोध का अथवा प्रकृति से अतुल सम्पत्ति छीनने का विचार कभी नहीं हुआ।

मानव-चेतना, पशु-जीवन और जड़ प्रकृति ये तीनों एक ही शक्ति के विभिन्न वर्ग अथवा एक ही विकास की विभिन्न दशाएं हैं। आत्मा और

---

[१] साधना, पृष्ठ ५ और ७

अनात्मा के जिन दो भागों में विश्व विभाजित किया गया है, वे एक-दूसरे के प्रतिद्वंद्वी नहीं, बल्कि एक ही पूर्ण ब्रह्म की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं; उसके अस्तित्व की विभिन्न शैलियां हैं। प्रकृति आत्मा-विरोधी नहीं है; अनात्मा का अस्तित्व इसलिए है कि आत्मा द्वारा उसका उपभोग हो। आत्मा की ज्वाला के लिए यह ईंधन के समान है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भौतिक द्रव्य को अन्न कहा गया है। मानव की संकल्प-शक्ति वातावरण को अन्त में परिवर्तित कर देती है। वस्तुगत प्रकृति का आत्मगत इच्छाओं के अनुरूप निरन्तर नियमन किया जा सकता है। अतीत में विश्व ने जो प्रगति की है, उसके आधार पर यह स्पष्टतया प्रमाणित होता है कि आत्मा और जीवन के उद्देश्यों के लिए वातावरण को उपयोग में लाने का मानव का प्रयास सफल रहा है। अहंकारशून्यता आध्यात्मिक शक्ति की अभिव्यक्ति का साधन है। "पृथ्वी, जल और प्रकाश, फल और फूल, उसके लिए ऐसी भौतिक घटनाएं-मात्र ही नहीं थीं, जिनका उपयोग किया जाय और फिर उन्हें छोड़ दिया जाय। पूर्णता के आदर्श की प्राप्ति के निमित्त ये चीजें उसके लिए आवश्यक थीं, वैसे ही जैसे स्वरसंगति की पूर्णता के लिए प्रत्येक स्वर आवश्यक होता है।"[1] प्रकृति के प्रति यदि हम ठीक रुख अपनायें, तो इसके द्वारा हम आत्मा की धड़कन महसूस कर सकते हैं। एक सच्चा द्रष्टा प्रकृति की घटनाओं में आध्यात्मिक महत्त्व देखता है। एक कवि प्रकृति में आत्मा का उच्च क्रन्दन सुनता है। "जिस व्यक्ति का विश्व-परिचय उसे विज्ञान की खोज से अधिक गहराई में नहीं ले जाता, वह उस बात को कभी नहीं समझ पायेगा जिस बात को आध्यात्मिक दृष्टिवाला व्यक्ति इन प्राकृतिक घटनाओं में अनुभव करता है। जल केवल उसके अवयवों को ही स्वच्छ नहीं करता, बल्कि यह उसके हृदय को भी पवित्र करता है, क्योंकि यह उसकी आत्मा को छूता है। पृथ्वी केवल उसके शरीर के भार को ही वहन नहीं करती, बल्कि उसके मन को भी प्रफुल्लित करती है; क्योंकि इसका सम्पर्क भौतिक मात्र ही नहीं, अपितु इसमें सजीव व्यक्ति की-सी विद्यमानता है। जो व्यक्ति संसार के साथ आत्मीयता के सम्बन्ध को नहीं समझता, वह एक ऐसे कारागार के बन्दी के समान है, जिसकी दीवारें उसके लिए निजी

[1] साधना, पृष्ठ ७

नहीं हैं। जब वह सब वस्तुओं में शाश्वत आत्मा के दर्शन करता है, तभी वह मुक्ति को पा लेता है, क्योंकि इस प्रकार वह इस संसार के, जिसमें उसका जन्म हुआ है; गहनतम महत्त्व को जान लेता है, तब वह पूर्ण सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, और तभी निखिलात्म के साथ उसका सामंजस्य स्थापित हो जाता है।"[1] प्राकृतिक वस्तुओं के आध्यात्मिक सौन्दर्य को देखने के लिए कलाकार की दृष्टि चाहिए, कारण कि केवल उसीकी दृष्टि परछाइयों और झूठी झलकों की परतों को चीरकर उसमें विश्वात्मा के दर्शन कर सकती है। रवीन्द्रनाथ को वह दृष्टि प्राप्त है, जो उस रहस्य को भेद सकती है, प्राकृतिक तथ्य जिसका संकेत और भविष्यवाणी है। वह प्रकृति के कवि हैं, जिनके हाथों में सर्वाधिक अपरिष्कृत जड़ पदार्थ काव्यात्मक छटा से मुखरित हो उठते हैं। ईश्वरीय आस्था से भरे उनके नयनों में प्रकृति के आध्यात्मिक रूप नाच उठते हैं। उनके हृदय में भक्ति की ज्योति जगा देते हैं और उनके होठों पर गीतों को गुंजरित कर देते हैं। ईश्वर द्वारा स्पृष्ट उनकी आत्मा को विज्ञान का भौतिक जगत् वैसा ही मधुर और सरल प्रतीत होता है जैसे कि एक बच्चे को। "यह एक परियों का विश्व है, जिसमें उन्हें बहलाने के लिए तारे बोलते हैं और आकाश नीचे झुक जाता है और प्रकृति की सारी सुषमा अपने चमकीले खिलौनों की तश्तरी लिये उनकी खिड़की पर आकर आहट करती है।"[2] उनको यह अनुभव होता है कि "असीम रहस्य का स्पर्श नगण्य और परिचित जगत् को प्राप्त होता रहता है, जिससे यह जगत् अवर्णनीय संगीत से मुखरित हो उठता है।" "वृक्ष, तारिकाएं और नीले पर्वत 'उस अभिप्राय' से दर्द से कराहते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति शब्दों में नहीं की जा सकती।"[3] स्वर्गीय आवेग का एक सांस सम्पूर्ण संसार पर से गुजर जाता है, जो इसे पवित्रता तथा पूर्णता प्रदान कर देता है। उन्हें 'वातावरण में एक ऐसी सिहरन' अनुभव होती है, "जो दूसरे तट से तैरकर आते हुए दूरस्थ संगीत की

---

[1] साधना, पृष्ठ ८

[2] देखिये, 'दि क्रेसेंट मून' में 'बेबीज़ वर्ल्ड'

[3] साधना, पृष्ठ ४३

स्वर-माधुरी से ओतप्रोत है।"[1] वे दिव्य सत्ता के सान्निध्य से कभी दूर नहीं हो पाते हैं, भले ही वे उसे अपनी इच्छा के अनुसार रूपान्तरित क्यों न करलें। पावस की गहरी परछाइयां और तूफानी रातें उन्हें ईश्वर की उपस्थिति का संकेत देती हैं। रहस्य से आप्लावित आत्मा झंझावात में ईश्वरीय वाणी का श्रवण कर सकती है और लहरों के नृत्य में उसका दर्शन कर सकती है।

यह आश्चर्य की बात नहीं कि रवीन्द्रनाथ प्रकृति की गोद और उन्मुक्त वातावरण के जीवन को आध्यात्मिक उन्नति का सर्वोत्तम साधन मानते हैं, क्योंकि प्रकृति में धर्मनिष्ठ दृष्टि असीम को अनन्तशयनम् की शान्त और मुस्कराती हुई मुद्रा में पड़ा देखती है। रवीन्द्रनाथ के गीतों का विषय मठ अथवा एकान्त प्रदेश नहीं, खुले राजमार्ग हैं। स्वच्छ वायु में वह उल्लसित हो उठते हैं, किन्तु सुनहरे राजछत्र के नीचे खड़े होने से भी वह नहीं हिचकिचाते। उनके मतानुसार ईश्वरीय प्रेरणा ग्रहण करने का सर्वोत्तम उपाय प्रकृति के ध्यान में लीन होकर अपने-आपको उसमें खो देना है। एकान्त में और नीरवता में हमें प्रकृति में ईश्वरीय सान्निध्य का सुख लेना चाहिए।

मैं जागा और उसका पत्र प्रभात के साथ मुझे मिला।

जब रात की निस्तब्धता छा जायगी और तारे एक-एक करके निकल आयेंगे, तब मैं उसे अपनी गोद में लिटा लूंगा और चुप बैठा रहूंगा।

खड़खड़ाती पत्तियां इसे जोर से मेरे लिए पढ़ेंगी, दौड़ती सरिता इसका सुरीला गान करेगी और सप्तर्षि आकाश से इसे मेरे लिए गायेंगे।[2]

बोलपुर के अपने स्कूल में रवीन्द्रनाथ ने धार्मिक शिक्षा पर जोर नहीं दिया, किन्तु उनका विश्वास है कि धार्मिक भावना और पवित्रता स्वयं ही विद्यार्थियों के जीवन में प्रवेश पा लेंगी, यदि उनका वातावरण शुद्ध और सात्त्विक हो। "आजकल हमें पूजा-अर्चना के लिए न मंदिरों की आवश्यकता है और न बाह्य विधि-विधानों तथा धार्मिक

[1] गीतांजलि, २१

[2] फ्रूट गैदरिंग, ४, १५ और ६८

अनुष्ठानों की। हमें जिसकी वास्तविक आवश्यकता है, वह है आश्रम। हमें ऐसा स्थान चाहिए, जहां प्रकृति की सुषमा और मानव के श्रेष्ठतम प्रयासों में मधुर समन्वय किया गया हो। हमारी पूजा का मंदिर वहीं है, जहां बाह्य प्रकृति और मानवीय आत्मा का तादात्म्य होता है।" मानव-प्रकृति पर वातावरण के प्रभाव को स्वीकार करते हुए प्राचीन आचार्य अपने आश्रमों के लिए वनों की गहन छाया और नदियों के तट चुना करते थे। जब हम अपने चारों ओर फैली हुई दिव्यता से भर जाते हैं, तो हम भगवान् का गम्भीर ध्यान और चिन्तन करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

आज मेरे आंगन में अपने सुखद उच्छ्वासों तथा मर्-मर् ध्वनि के साथ वसन्त आया है, और मधुमक्खियां अपने पुष्पित कुंज-रूप दरबार में अपनी मादकता का काम कर रही हैं।

अब जी चाहता है—तेरे सम्मुख चुपचाप बैठूं और मौत तथा निर्बाध अवकाश में जीवन के समर्पण का गीत गाता रहूं।[1]

पुनश्च—

मध्याह्न के काम के व्यस्त क्षणों में मैं कर्मशील मनुष्य-समुदाय में रहता हूं, किन्तु आज इस मेघाच्छन्न निर्जन दिन में मैं तेरे ही सान्निध्य की आशा करता हूं।

यदि तुम मुझे दर्शन नहीं दोगे, यदि तुम मुझे पूर्णतया एकाकी छोड़ दोगे, तो मुझे नहीं मालूम कि मेरे बरसात के ये लम्बे-लम्बे घंटे किस प्रकार बीतेंगे।[2]

हर्ष तथा उल्लास के ऐसे क्षणों में जब हम मौनरूप से ईश्वर के, उस जीवित जाग्रत सामीप्य की आराधना करते हैं, जिसका हमें प्राकृतिक ऐश्वर्य तथा सौन्दर्य के माध्यम से अनुभव होता है और जिसकी आवाज विश्व में व्याप्त ऐश्वर्य के ध्यान के द्वारा आत्मा को सुनाई पड़ती है, तब हमपर अकथनीय शान्ति छा जाती है। उस समय असीम अपने रहस्य हमारे कान में गुनगुनाता है और हमें आत्मा की कहानी तथा सृष्टि की गाथा सुनाता है।

---

[1] गीतांजलि, ५

[2] गीतांजलि, १८

अकथनीय से घनिष्ठ संपर्क स्थापित करने के लिए हमें क्रिया की कोलाहलपूर्ण दुनिया से भाग जाना चाहिए तथा जीवन-यंत्र से, जो आत्मा का हनन करता है, बच निकलना चाहिए। निर्जीव यांत्रिक कार्य व्यक्ति का पतन कर देता है और पशुवत् बनाता है; जबकि प्रकृति का जीवन आत्मा को पवित्र करता है और ऊपर उठाता है। प्राकृतिक दृश्य की स्वाभाविकता के प्रति उत्साहपूर्ण आत्म-समर्पण मानव को किस प्रकार उसके ध्येय तक पहुंचाता है, इसका वर्णन रवीन्द्रनाथ ने बहुत सुन्दर ढंग से किया है :

मैं भी जल के किनारे लेट गया और मैंने अपने श्रान्त अंगों को घास पर फैला दिया।

मेरे साथी तिरस्कारपूर्वक मेरा उपहास करने लगे। गर्व से सिर ऊंचा करके वे तेजी से आगे बढ़ते गये; उन्होंने विश्राम तो क्या, पीछे मुड़कर भी नहीं देखा। वे दूर के नीले धुंधलके में ओझल हो गये। उन्होंने बहुत-से मैदानों और पर्वतों को पार किया, तथा वे अजनबी और दूर-दूर के देशों में से गुजरे। अनन्त मार्ग के ओ वीर आतिथ्यक, तेरा हार्दिक सम्मान है! उपहास और उपालम्भ ने मुझे कुरेद-कुरेद कर उठाना चाहा, किन्तु मुझमें कोई प्रतिक्रिया न हुई। आखिरकार मैंने आनन्दप्रद मान-मर्दन की गहराई में धुंधले आनन्द की छाया में खोये जाने के लिए अपने को छोड़ दिया।

आखिरकार, जब नींद से जागा और आंखें खोलीं, मैंने तुम्हें अपने पार्श्व में खड़े पाया, तुम अपनी मुस्कानों से मेरी निद्रा की शून्यता को आप्लावित कर रहे थे।[1]

तब स्वर्ग से बहनेवाली हवा के प्रति हममें ग्रहणशीलता एवं संवेदनशीलता आ जाती है। हम उसका सान्निध्य अनुभव करते हैं, जो प्रेम-ही-प्रेम और शान्ति-ही-शान्ति है। दिल का बोझ हल्का हो जाता है, और आत्मा तुच्छ, कष्टप्रद तथा उद्वेगकारक जीवन से ऊपर उठी दिखाई देती है और आप-से-आप पूर्ण सामंजस्य को प्राप्त कर लेती है। ईश्वरीय प्रकाश आत्मा को परिप्लावित कर देता है,

---

[1] गीतांजलि, ४८

ईश्वरीय संगीत उसे आत्मविभोर कर देता है और आत्मा अपने आनन्द को सार्वभौमता के गीत गुनगुनाकर अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार 'तिरस्कृतों के गंदे और मैले-कुचैले पथ पर' दौड़कर भी मानव ईश्वर के निकट पहुंचता है।[1] 'पोस्ट आफिस' में मिथ्या तर्क से दूषित माधव के पूर्वद्वेषों से मुक्त होकर बालक अमल शहरों के शोरगुल तथा उनकी चकाचौंध से और भीड़ के कोलाहल से दूर हट जाने की आकांक्षा करता है और देहात के पर्वतों और घाटियों में जाने को तड़पता है। यद्यपि यह कहा जाता है कि संसार में उसका बने रहना उसके घर में बने रहने पर ही निर्भर है, तो भी पिंजरे का पंछी अपनेको मुक्त पक्षी के रूप में देखने की और जंगल के स्वच्छन्द भ्रमण की लालसा करता है। जैसा कि 'दि साइकल ऑव स्प्रिंग' में कहा गया है, "बाह्य जगत् का निर्माण सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, आदि के उदार उपयोग से किया गया है। हमें इसका आनन्द लेना चाहिए, तभी हम उस ईश्वर की लाज रख सकते हैं जिसने सृष्टि के निर्माण में इतना अधिक अपव्यय किया है।"[2]

रवीन्द्रनाथ का प्रकृति-विषयक विचार उस विचार के प्रतिकूल है, जो प्रकृति को आत्मा और उसकी महत्त्वाकांक्षाओं का विरोधी बताता है। प्रकृति के प्रति आत्मा के सम्बन्ध के विषय में उनके दृष्टिकोण सकारात्मक हैं। ये दोनों पूर्ण सत्ता के दो पहलू हैं। प्रकृति और समाज ईश्वरीय आत्मा के प्रतिरूप हैं। बाह्य जगत् में भी वही ज्योति जगमगाती है, जो भीतरी जगत् में। प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है कि वह जीवन के प्रत्येक क्षण में चीजों की इस सर्वोपरि एकता का स्मरण रखे। "अपनी दैनिक पूजा में हम गायत्री का चिन्तन करते हैं। इस मंत्र को वेदों का सार माना गया है। इस मंत्र की सहायता से हम मानव की सचेतन आत्मा के साथ विश्व की आधारभूत एकता को समझने का यत्न करते हैं, शाश्वत आत्मा के द्वारा स्थापित की हुई एकता को प्रत्यक्ष रूप से देखने की शिक्षा प्राप्त करते हैं, जिस शाश्वत आत्मा की शक्ति से पृथ्वी, आकाश, नक्षत्रादि उत्पन्न हुए हैं और साथ-ही-साथ जो उस चेतना के प्रकाश द्वारा हमारे मनों को देदीप्यमान करती है,

[1] फ्रूट गैदरिंग, १०

[2] 'दि साइकल ऑफस्प्रिग', पृष्ठ ५१

जो चेतना बाह्य जगत् के साथ निरन्तर चली आई है और आज भी चल रही है।"[1] आत्मा का गीत और दिशाओं का संगीत इस दैवी स्वर-संगीत की ही अभिव्यक्तियां हैं।

वही जीवन-सरिता जो दिन रात मेरी नस-नाड़ियों में प्रवाहित हो रही है, विश्व में द्रुत गति से दौड़ रही है और लय-तान के साथ नृत्य कर रही है।[2]

वही आत्मा अत्यधिक दूरस्थित सूर्य में और आत्मा की गहनतम गहराइयों में निवास करती है। प्रकृति ऐसी द्वेषपूर्ण प्रतिकूल शक्ति नहीं जो पग-पग पर मानव को हैरान करे, संसार हमारे लिए अनजानी पराई चीज नहीं।

जब प्रातःकाल मैंने प्रकाश की किरणें देखीं, तो तत्क्षण मैंने अनुभव किया कि मैं इस विश्व में निरा अजनबी नहीं हूं।[3]

संसार की एकता की जो कल्पना रवीन्द्रनाथ ने की है, उससे हमें यह विश्वास होता है कि विज्ञान और नैतिकता के आदर्श वास्तविक हैं। यह कल्पना हमें सन्मार्ग पर चलते रहने का भी संबल प्रदान करती है, जिससे दुःख तथा अपराध की कठोर वास्तविकताएं भी हमें डिगा नहीं सकतीं। यह कल्पना हमें यह अनुभव कराती है कि संसार की आध्यात्मिक शक्तियां हमारे प्रयत्नों में किस प्रकार हमें सहयोग प्रदान करती हैं। यदि मानव तथा विश्व का और आत्मा तथा अनात्मा का भेद सच्चा होता, तो "संसार में परम दुःख और प्रबल असत् के अतिरिक्त कुछ भी न होता। उस दशा में हम न तो असत्य से सत्य पर पहुंच सकते और न पाप से कभी भी हृदय की विशुद्धता प्राप्त करने की आशा कर सकते। उस अवस्था में सभी विरोधी हमेशा विरोधी रहते और हमें कोई ऐसा माध्यम न मिलता, जिसके द्वारा हमारे भेद कभी दूर हो सकते।"[4] ऐसी स्थिति में हमारा जीवन अपव्यय तथा अनौचित्य की, भय तथा निर्बलता की बीभत्स महाविपद्

---

[1] साधना, पृष्ठ ९

[2] गीतांजलि, ६९

[3] गीतांजलि, ९५

[4] साधना, पृष्ठ १०५

होता। किन्तु विज्ञान, कला और नैतिकता के क्षेत्रों में जो प्रगति हुई है, उससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा और अनात्मा केवल सापेक्षिक रूप से ही एक-दूसरे के विरोधी हैं। इस विरोध को भंग करना और दोनों से एक आत्मा की अभिव्यक्ति करवाना मानव का कार्य है। यह मत प्रकृति और आत्मा में संतुलन स्थापित करता है और जीवन को जीने योग्य बनाता है। यदि सृष्टि में "देवताओं का अस्तित्व है तो मरने में भी कोई हर्ज नहीं—मरना भी अच्छा है; और यदि देवता नहीं हैं, तो जीने से बढ़कर संताप कोई नहीं।"[1] यदि संसार में कोई सर्वव्यापी आत्मा है, तो जीवन के घोर अन्धकार और विषाद अपनी कटुता और तीखापन खो बैठते हैं। तब हम अनुभव करते हैं कि हम किसी संदेहास्पद किन्तु विवादास्पद विषय पर किसी अज्ञात विरोधी से लोहा नहीं ले रहे, वरन् धीरे-धीरे प्रगति करते हुए हम उस विजय को प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं, जो हमारे लिए पूर्ण रूप से निश्चित है। पूर्ण विश्वास अन्धकारपूर्ण निराशा का स्थान ले लेता है। अनुभव का उलझनों से भरा अव्यवस्थित तथा अन्धकारमय संसार सर्वथा स्पष्ट तथा पारदर्शक हो जाता है। संदेह लुप्त हो जाता है, और जीवन के विरोध मिट जाते हैं। "समस्त कठोरता और बेसुरापन पिघलकर मधुर सामंजस्य में परिणत हो जाते हैं।"[2]

(४)

विश्व का सृजन परम सत्ता की कार्यान्विति और उसकी स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति-मात्र है। "परमात्मा अपनेको सृजन द्वारा ही अनुभव करता है—प्राप्त करता है।" सृष्टि के सृजन का सुख ही उस विश्व को जन्म देता है, जो ईश्वर से पृथक् नहीं है, किन्तु उससे अभिन्न है। ईश्वर समस्त संसार का आधार है। यह ईश्वर का आत्म-विच्छेद है, जिसके फलस्वरूप मानव और वस्तुओं का संसार अस्तित्व ग्रहण करता है। किन्तु "इस सम्बन्ध के लिए द्वैत भाव की आवश्यकता है।"[3] पूर्ण

---

[1] मार्क्स एण्टोनीनस

[2] गीतांजलि, २

[3] स्ट्रे बर्ड्स, ४६

ब्रह्म अपने व्यक्तित्व को दो रूपों में विभक्त कर देता है—आत्मा और अनात्मा, ईश्वर और माया, पुरुष और प्रकृति । "जब गायक को प्रेरणा प्राप्त होती है, तब वह अपनेको दो रूपों में विभक्त कर देता है; वह अपने अन्दर दूसरी आत्मा को श्रोता बना लेता है, और बाह्य श्रोतागण उसकी इस दूसरी आत्मा का ही मात्र विस्तार हैं । प्रेमी अपनी ही दूसरी आत्मा को अपनी प्रेमिका में खोजता है । यह आनन्द ही है, जो उस वियोग की सृष्टि करता है, जिससे कि वह बाधाओं में से गुजरता हुआ अपनी दूसरी आत्मा से फिर से मिलकर एक हो जाय ।[१]" अनात्मा या प्रकृति या माया साधारणतया निष्क्रिय तत्त्वरूप मानी जाती हैं; इसके विपरीत आत्मा सक्रिय तत्त्वरूप माना जाता है। यह उनकी पारस्परिक संपूरकता ही है, जो विश्व की एकता को स्थिर रखती है। इन दोनों तत्त्वों की क्रिया तथा अन्योन्य-क्रिया द्वारा ही अनन्त सत्ता अपने-आपको प्राप्त करती है । 'अनात्मत्व' का तत्त्व ईश्वर को बाध्य करता है कि वह विश्व में अपने-आपको प्राप्त करे । यह तत्त्व सृष्टि के हृदय में विद्यमान स्त्री है।" (यह तत्त्व) ऐसी स्त्री है जो अपने छलकते हुए माधुर्य तथा लावण्य को सदा ईश्वर को वापस लौटा रही है; जो प्रकृति में विद्यमान अमर नवसौन्दर्य तथा नवयौवन है, जो वेगवती नदियों के साथ नृत्य करती है और नवोदित किरणों के साथ गाती है; जो आह भरती लहरों के द्वारा प्यासी भूमि की प्यास बुझाती है; जिसमें अनन्त सत्ता उस आनन्द से विभोर होकर एक से दो बन जाती है, जो अपने रूप में स्थिर नहीं रह सकता और प्रेम की पीड़ा के रूप में छलक उठता है ।"[२] पूर्ण ब्रह्म से आविर्भूत प्रथम सत्ता अनात्मा के साथ विद्यमान वह ईश्वर है, अनात्मा जिसके विरुद्ध है। ईश्वर व्यक्तिगत परमात्मा है, जो सीमित मानसों के लिए सत् का आदर्श है । वह विश्व का पिता, स्रष्टा तथा शासक है । अनात्मा, सकारात्मक ईश्वर का नकारात्मक प्रतिबिंब है । सम्पूर्ण विश्व इन दोनों तत्त्वों के बीच की अन्योन्य क्रिया में, उसके माध्यम से तथा उसके द्वारा विकसित होता है ।

---

[१] साधना, पृष्ठ १०४

[२] फ्रूट गैदरिंग, ५६

हे भरतर्षभ ! जितनी भी स्थावर या जंगम वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, उन सम्पूर्ण वस्तुओं को तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ (प्रकृति तथा पुरुष, सान्त तथा अनन्त) के संयोग से उत्पन्न हुई जान ।[1]

जहं चेत-अचेत खंभ दोउ मन रच्या है हिंडोर ।
तहं झूलैं जीव जहान, जहं कतहुं नहिं थिर ठौर ।।
और चन्द-सूर दोउ झूलै नाहीं पावै अन्त ।
चौरासी लच्छहु जिव झूलें झूलें रवि-ससि धाय ।
कोटिन कल्प जुग बीतिया आनें न कबहुं हाय ।
धरनी अकासहु दोऊ झूलें झूलें पवनहुं नीर ।
धरि देह हरि आपहु झूलें जो लखहीं दास कबीर ।।[2]

विश्व परम सत्ता का शाश्वत तथा अनन्त बलिदान है। भगवद्-गीता में लिखा है, "समस्त विश्व का आधार बलिदान है, यह सृष्टि का नियम है।"[3] ईश्वर अपना बलिदान करता रहता है, जिससे कि प्रकृति और मानव-जाति जीवित रह सके। जिसमें विश्व निहित है, उस पूर्ण सत्ता का आत्मविच्छेद केवल उसके आनन्द की ही अभिव्यक्ति और विश्व का नियम है। यह "वह आनन्द है, जो पृथ्वी पर घास के विलासमय आधिक्य के लिए उत्तरदायी है, जो आनन्द जीवन तथा मरण इन दो जुड़वां भाइयों को विस्तृत संसार में अपनी लीला करने के लिए नियुक्त कर देता है। जो आनन्द, खिलखिलाहट के द्वारा समस्त जीवन को हिलाता और जगाता हुए अंधड़ के साथ बेरोकटोक आगे बढ़ता चला जाता है, जो आनन्द पीड़ा के विकसित लाल कमल पर अपने आंसुओं के साथ शान्त रूप से स्थिर रहता है, जो आनन्द अपनी समस्त संपत्ति को मिट्टी में मिला देता है, और जो आनन्द स्वयं शब्दज्ञान से परे है।"[4] संसार की मूर्त समृद्धि की अनुभूति के लिए आनन्द के आस्फोट की आवश्यकता है। इस आनन्द के परिणामस्वरूप ही सृष्टि का निरन्तर नव-निर्माण होता रहता है :

---

[1] भगवद्गीता, १३/१६
[2] कबीर-वाणी, १६
[3] भगवद्गीता, ३/१४
[4] गीतांजलि ५८

तू इस क्षणभंगुर पात्र को पुनः-पुनः रिक्त करता है, और इसे सदा-सर्वदा ही अभिनव जीवन से भरता रहता है।[१]

'साइकल ऑफ स्प्रिंग'[२] का केन्द्रीय विषय यह शिक्षा है कि पुरातन सदा नवीन है। पूर्ण ब्रह्म अपने-आपको वियोग और मिलन के द्वारा प्राप्त करता है।

बच्चा अपनी माता को तभी प्राप्त करता है, जब वह गर्भाशय को छोड़ देता है।

जब मैं तुमसे अलग कर दिया जाता हूं, तुम्हारे गृहस्थ से बाहर फेंक दिया जाता हूं, उस समय मैं तुम्हारी आकृति को देखने में स्वतन्त्र होता हूं।[३]

शाश्वत को साकार रूप प्रदान करने के लिए यह वियोग आवश्यक है :

जब तुम एकाकी रहते थे, तब तुम अपने-आपको नहीं जानते थे। मैं आया और तुम जाग गये।[४]

पहले तुम अपनी सत्ता में स्वयं दीवारें खड़ी करते हो, फिर तुम अपनी वियुक्त आत्मा को करोड़ों नाम देते हो। तुम्हारे इस आत्म-वियोग ने ही मेरे शरीर का रूप धारण किया है।

तेरे और मेरे महान् आडम्बरपूर्ण समारोहों से यह आकाश समाच्छादित है। तेरी और मेरी सुर-तानों से समस्त वायुमंडल स्पन्दित है तथा तेरी और मेरी आंख-मिचौनी में युग-युग बीतते जाते हैं।[५]

यह वियोग की वेदना है, जो संसार-भर में व्याप्त हो जाती है और अनन्त आकाश में असंख्य आकृतियों को जन्म देती है।[६]

किन्तु दोनों का वियोग अन्तिम बात नहीं है। विश्व परमात्मा से केवल बहिर्निष्क्रमण नहीं, वरन् उसके प्रति अभिगमन भी है। इन

---

[१] गीतांजलि, १

[२] साइकल ऑफ स्प्रिंग, पृष्ठ ३५

[३] फ्रूट गैदरिंग, १०

[४] वही, ८०

[५] गीतांजलि, ७१

[६] गीतांजलि, ६४

दोनों का मिलन पूर्ण है, किन्तु विश्व में यह मिलन पैदा किया जा रहा है। सान्त सत्ता हमारे प्रति आत्मा के अनन्त सत्ता बनने के कठिन परिश्रम के तनाव का प्रतिनिधित्व करती है। अभिप्राय यह है, कि विश्व वह संघर्ष है जो ससीम को असीम बनने के लिए करना पड़ता है। वास्तव में विश्व ईश्वर और मानव इन दोनों के बीच आंख-मिचौनी का खेल है। संसार के सभी पदार्थ ससीम-असीम हैं, किन्तु दोनों के बीच का तनाव मानवीय चेतना में सर्वाधिक होता है। मानव आदर्श के अधिक निकट है, किन्तु वह मानव के रूप में उसे कभी नहीं प्राप्त कर सकता। संसार असीम की ओर विकास की प्रक्रिया है, किन्तु निष्पत्ति—परिपाक—नहीं। यदि मानव पूर्ण रूप से असीम को प्राप्त कर ले, अर्थात् उसकी अनन्त-रूप में परिणति हो जाय और यदि संसार अनन्त-रूप में विकसित होने के उद्देश्य तक पहुँच जाय, तब न संसार होगा और न अनिवार्य रूप से पूर्ण ब्रह्म ही।

हे स्वर्गों के स्वामी, यदि मैं न होता तो तेरा प्रेम कहां रहता ?[1]

यद्यपि ईश्वर सब-कुछ है, प्रत्येक वस्तु ईश्वर नहीं। रवीन्द्रनाथ सारे संसार को ईश्वर की अभिव्यक्ति मानते हैं, फिर भी विभिन्न वस्तुएं ईश्वर को विभिन्न मात्राओं में अभिव्यक्त करती हैं। इस प्रकार वह वास्तविकता की मात्राओं के विचार को स्वीकार करते हैं। "सान्त में अनन्त की अभिव्यक्ति, जो समस्त सृष्टि की प्रेरक शक्ति है, अपने पूर्ण रूप में न तो नक्षत्रजटित द्युलोकों में दिखाई पड़ती है, न पुष्पों की सुषमा में ही। यह तो मानव की आत्मा में है।"[2] ऊर्ध्वगामी दृष्टिवाला प्राणी—मानव, अन्य सामान्य प्राणियों की अपेक्षा ईश्वर की अधिक उच्च कोटि की अभिव्यक्ति है; और पशु उस कीट की अपेक्षा उच्च है, जो मिट्टी के ढेले से अधिक उच्चतर है। "तुम दूसरी वस्तुओं को तो देते हो, पर मुझसे तुम मांगते हो।"[3] इस प्रतिबंध के अधीन हम कह सकते हैं कि संसार के वे पदार्थ परमात्मा

---

[1] गीतांजलि, ५६

[2] साधना, पृष्ठ ४१

[3] फ्रूट गैदरिंग, ७८

के अंग हैं, जिन्हें पूर्ण होने की प्रबल आकांक्षा है। ईश्वर पूर्णता का असीम आदर्श है। मानव, जो कुछ वह है, वह भी अभी उसे बनना है। अपनी सान्तता के कारण वह अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं करता। उसके आदर्श की तुष्टि उसकी अपनी सत्ता को लांघकर स्थित है। इस आदर्श की पहुंच उसकी पकड़ से परे है। मानव इसे प्राप्त करने का कठिन प्रयत्न करता है किन्तु यह उसके प्रयत्न को निष्फल कर देता है। वह इस उद्देश्य को स्वप्न में देखे दृश्य की तरह देखता है, जिसकी तीव्रता से अभिलाषा की गई है।[1] हमारे लिए मानव और वस्तुओं का सीमित जगत् अपूर्ण से पूर्ण तक की यात्रा के मार्ग का प्रतिनिधित्व करता है। हम मार्ग देखते हैं, अभी तक उसका अन्त—उद्देश्य नहीं देखते। संसार के द्वारा और उन सुविधाओं के द्वारा, जिन्हें यह संसार हमें प्रदान करता है, "सब-के-सब तीर्थ-यात्री संसार के अपने सच्चे उत्तराधिकार की ओर आगे बढ़ रहे हैं।"[2] तीर्थयात्री अनन्त के अन्वेषण में जो प्रगति करते हैं वह प्रगति ही मात्र संसार है। यहां का प्रत्येक पदार्थ चिल्लाकर कहता है, "मैं तुझे, केवल तुझे चाहता हूं।" और फिर शाश्वत जीवन की प्राप्ति के लिए संघर्ष करने लगता है।

(५)

जबतक ससीमता के अंश मानव से चिपके हैं और जबतक उसकी बुद्धि, उसके संवेग और उसकी संकल्प-शक्ति सान्त प्रकृति से बंधे हैं, तबतक वह आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकता। सीमित बुद्धि संसार को आत्मा और अनात्मा, प्राणी और वातावरण—इन विरोधी शक्तियों में विभक्त कर देती है, और हमें उस अन्तिम एकता के दर्शन नहीं कराती जिसमें सापेक्ष रूप से ये विरुद्ध शक्तियां एकाकार-रोधी-रूप से स्थित रहती हैं। अंतिम एकता अपने-आपको विषयी और विषय, मानव और प्रकृति—इन दो अवयवों में विभक्त कर लेती है। बुद्धि अभिव्यक्तियों का अध्ययन करती है, किन्तु उस एकता तक नहीं पहुंच पाती, जहां ये दोनों अवयव मिलकर एक हो जाते हैं—यह विरोधी तत्त्वों के उस संघर्ष में उल्लसित

[1] गीतांजलि, १३

[2] साधना, पृष्ठ ३४

होती है, जो संसार का खेल है। बुद्धि उस परिपूर्ण को, जिसमें ये भेद मिटाये नहीं, वरन् खपाये जाते हैं—उस एकता को, जो वस्तुओं की अन्तिम व्याख्या है, समझ नहीं पाती। वह विश्व-काव्य का विश्लेषण करती है और उसमें "इसकी लयों के नियम का उसके विस्तार और संकोचन के तथा गति और प्रयोग के माप-तोल का, तथा उसके रूपों और लक्षणों के विकास का अनुसंधान-मात्र कर पाती है।" इसमें संदेह नहीं कि ये "मन की सच्ची उपलब्धियां हैं," किन्तु रवीन्द्रनाथ कहते हैं—"हम इतने से ही सन्तोष नहीं कर सकते।" हमारा विचार अन्तिम रूप से उनमें विराम नहीं पा सकता। अभी भी हम विरोधी तत्त्वों के अधिकार में हैं। उपनिषद् में लिखा है, "जबतक द्वैतवाद है, तबतक तुम्हारे लिए भय बना रहेगा।" बुद्धि का जगत् "रेलवे स्टेशन के समान है, किन्तु स्टेशन का प्लेटफार्म हमारा घर नहीं।"[१] "सत् तथा असत्, सत्य और असत्य, आत्मा और अनात्मा, सौन्दर्य और कुरूपता—अपने इनसब भेदों की बुद्धि का संसार परम सत् के मार्ग पर एक-एक पड़ाव है। संसार के बौद्धिक चित्र में भेद की निश्चित रेखाएं होती हैं। बुद्धि विरोधी तत्त्वों को निरपेक्ष पूर्ण बनाती है, और इस कारण यह व्यवस्था विरोधों से भरपूर हो जाती है; किन्तु यदि हम पैनी दृष्टि से देखें, तो पता चलेगा कि बुद्धि द्वारा प्रतिपादित ठोस भेद वास्तव में द्रव होते हैं और वे आश्चर्यजनक पूर्ण सत्ता में मिलकर एक हो जाते हैं।" "जो यवनिका तूने विश्वरूपी नाटचशाला में खड़ी की है, उसपर दिन और रात की तूलिका से असंख्य चित्र अंकित किये गए हैं। उसके पीछे तेरा सिंहासन है, जो वक्र रेखाओं के आश्चर्यपूर्ण रहस्यों से बुना गया है, और जिसमें सरलता की नीरस रेखाओं का सर्वथा अभाव है।"[२] सान्त और अनन्त इन दोनों के परे पूर्ण ब्रह्म है, जिसे समझने में सान्त बुद्धि असमर्थ रहती है। हमारा मन उसतक नहीं पहुंच सकता। इसे देखने के लिए हमारी आत्मा धुंधले अज्ञात में से झांकती है, किन्तु वह उसे वहां नहीं पा सकती, जहां हमें मोटर और हवाई जहाज ही दीख पड़ते हैं। हमारी दृष्टि बाह्य है और ईश्वर का

---

[१] साधना, पृष्ठ ९९

[२] गीतांजलि, ७

अस्तित्व वहां नहीं; हमारी दृष्टि अन्दर को मुड़ती है किन्तु ईश्वर वहां भी नहीं मिलता।

भीतर कहूं तो जगभय लाजै,
बाहर कहूं तो झूठा लो।[1]

जबतक हम उसे सब कहीं—अन्दर और बाहर, अंधकार में और प्रकाश में—नहीं देखते, तबतक हम उसे नहीं देख सकते। जाब के नाटक में जोफ़र से कहलवाया गया है, "क्या तुम खोजकर ईश्वर का पता नहीं लगा सकते? क्या तुम पूर्णता-प्राप्त सर्वशक्तिमान् सत्ता को नहीं ढूंढ़ सकते? वह, स्वर्ग-जितना ऊंचा है, तुम क्या कर सकते हो? पाताल-लोक से भी अधिक गहरा है, क्या तुम जान सकते हो?" जिस सहज ज्ञानात्मक अन्तर्दृष्टि से हम ईश्वर को देख सकते हैं, वह हमें बुद्धि से नहीं प्राप्त हो सकती। पूर्ण सत्ता सर्वोच्च एकता है, जिससे सकल पदार्थों का विकास होता है; किन्तु वह इतना ऊंचा और सूक्ष्म है कि हमारी भावनाएं, कल्पनाएं तथा विचार उसका यथोचित वर्णन नहीं कर सकते। उसका छलकता हुआ जीवन हमारी सारी बौद्धिक सीमाओं को तोड़कर बहने लगता है। विशुद्ध तथा पूर्व-ग्रहों से वियुक्त बालक की-सी सरल दृष्टि ही उसे देख सकती है। जब आत्मा ईश्वर में लीन होती है तब वह उसका दर्शन कर लेती है। "ब्रह्म के साक्षात्कार से आत्मा स्वयं ब्रह्म बन जाती है।" तर्क-वितर्क निरर्थक है। नैयायिकता हमें उसका साक्षात्कार नहीं करा सकती। वह निदर्शन-प्रदर्शन से ऊपर की वस्तु है। बुद्धि उस दैवी रहस्य की थाह नहीं ले सकती। जो अपने-आपको लुप्त रख सके, वही ईश्वर है। "अंधेरे में उसकी झलक मिल सकती है, पर दिन में वह दिखाई नहीं देता।"[2] वह केवल सहज ज्ञान से जाना जा सकता है। रवीन्द्रनाथ कहते हैं, "हमारी आत्मा में परम सत्ता का दर्शन प्रत्यक्ष और तात्कालिक उस अन्तर्दृष्टि से ही हो सकता है, जो किसी प्रकार के भी तर्क-वितर्क और प्रमाण पर निर्भर नहीं है।"[3]

---

[1] कबीरबानी, ९

[2] स्ट्रे बर्ड्स, ८७, पृष्ठ २२

[3] साधना पृष्ठ २९

सीमित बुद्धि के चक्षु के लिए यह अन्धकार है, अभेद्य अन्धकार है। ईश्वर अन्धकक्ष का राजा है। हम अंधेरे कारागार में रहते हैं, जो उन दीवारों से घिरा हुआ है, जिन्हें हमारी सान्तता ने खड़ा किया है, जो हमें दूसरों से पृथक् करती हैं। इस कारागार के बाहर प्रकाश है, अंधेरा नहीं। यदि एकाएक हमारे उन अशिक्षित नेत्रों के सम्मुख महान् दृश्य उपस्थित हो जाय, जो केलि-कुंजों में ही वस्तुओं को देख सकते हैं, यदि यह अप्रत्याशित रूप से हमारी उस सामान्य चेतना के सम्मुख अपनेको प्रकट कर दे, जो तुच्छ किन्तु इठलाते हुए अहं-भाव से इस प्रकार चिपटी रहती है मानो यही संसार में सबकुछ है, तो उस दृश्य का वह साक्षात्कार आंखों को चौंधिया देगा और चेतना को झकझोर देगा। महामना अर्जुन तक के लिए भी, जिसकी आत्मा में दैवी ज्योति प्रज्वलित थी और जिसका हृदय परमात्मा की भक्ति से ओतप्रोत था, सार्वभौम सत्ता के रूप में ईश्वर का अमित दर्शन श्रद्धा-विस्मयान्वित, असह्य और भयंकर हो गया था। अपनी अत्यधिक चमक से वह मरणधर्मा मानव की आंखों को चकाचौंध कर देता है। घोर कष्ट की वेला में जब ईश्वर प्रकट होता है, तो उसका रूप भयावह होता है।

काला, काला—ओह, तू तो अनन्त रात्रि से भी बढ़कर काला है! मैंने तुझे केवल एक भयंकर क्षण ही देखा। अग्नि की ज्वाला तेरे रूप पर गिरी—तू उस डरावनी रात-जैसा दिखाई दिया, जिसमें कोई धूमकेतु भयावह रूप में चक्कर लगाता हुआ झूल रहा हो—ओह, तब मैंने आंखें मूंद लीं—मैं तुझे और अधिक देर तक न देख सका। अंधड़ के डरावने बादल-जैसा काला, तटहीन समुद्र के समान काला, जब संध्या के समय डूबते सूरज की लालिमा उस समुद्र की गरजती हुई लहरों को छू जाती है![1]

एक भयंकर क्षण तक राजकुमारी ने शाश्वतता के नेत्रों से वस्तुओं के हृदय को टटोला, और ऐसे सूर्यों और ऐसी सृष्टियों को देखा, जो ठंडे

---

[1] दि किंग ऑफ दि चैम्बर, पृष्ठ ११०। "परमात्मा का दायां हाथ सुकुमार है, किन्तु उसका बायां हाथ भयावह है।" (स्ट्रे बर्ड्स, २११)

पड़ चुके थे और जो जम चुकी थीं। हम न पूर्ण अंधकार में देख सकते हैं और न पूर्ण प्रकाश में। हमारे लिए दोनों अंधकारपूर्ण हैं—एक अत्यधिक ज्योति के कारण और दूसरा इसके पूर्ण अभाव के कारण। हमें हर कहीं परस्पर-विरोधी वस्तुओं का मिश्रण चाहिए, और वह हमें अपने ठोस दिखाई देनेवाले संसार में मिलता है। 'दि किंग ऑव दि डार्क चैम्बर' नामक नाटक में अपनी ज्ञाति आत्मा के लिए आत्मा के शाश्वत अन्वेषण का चित्रण है। उस नाटक की राजकुमारी अपने पति और प्रिय स्वामी को अनुभूतिमूलक विश्व में—मृत्युलोक में, देखना चाहती है, जहां ग्रीष्मकाल के लिए सुन्दर भवन हैं और भ्रमण तथा यात्रा के लिए मोटरगाड़ियां; अर्थात् देशकाल और कार्य-कारण के संसार में वह अपने पति को दूसरे साधारण व्यक्तियों के मध्य साधारण व्यक्ति के रूप में देखना चाहती है। वह इस प्रकार उसतक नहीं पहुंच सकती। वैज्ञानिकों का कथन है—दूरबीन की सहायता से कोई भी व्यक्ति समस्त व्योम को छान सकता है, पर उसे ईश्वर नहीं मिल सकता। इसी प्रकार राजकुमारी भी ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में अविश्वासी बन सकती है, क्योंकि उसकी दृष्टि अनुभव के संसार तक सीमित है। "कौंडिन्य, मुझे ऐसा लगता है मानो इन लोगों का कोई राजा है ही नहीं। किसी प्रकार इन्होंने इस अफवाह को बनाये रखा है।"[१] कल्पना अथवा परिकल्पना के रूप में ईश्वर का विधान किया गया है, और यह शायद चतुर लोगों ने जनसाधारण पर अंकुश रखने के लिए किया है। जीवन एक निराशाजनक प्रश्न बन जाता है और ईश्वर एक समस्या। यदि राजकुमारी उसे ठीक दृष्टिकोण से देखती है, तो वह उससे दूर नहीं; किन्तु यदि वह अनुभूतिमूलक दृष्टिकोण से देखती है तो ईश्वर दूर है। परम सत्ता एक प्रेत के समान है, जो उसकी पहुंच के बाहर है। ईश्वर सदा राजकुमारी से प्यार करता है, किन्तु जबतक वह उसे उस स्थान पर ढूंढ़ती है, जहां वह पशु-पक्षियों, पेड़-पत्थरों आदि को देखती है, वह उसे नहीं पा सकती।

कारण यह है कि ब्रह्म ऐसा विषय नहीं, जिसे हम अपने सान्त

---

[१] दि किंग ऑफ दि डार्क चैम्बर, पृष्ठ १८

नेत्रों से देख सकें। यह वही प्रकाश है, जिसकी सहायता से हम अन्य सब विषयों को देखते हैं। हम ब्रह्म को विषय के रूप में कैसे देख सकते हैं, जबकि वह विषयी और विषय दोनों ही है; जबकि यह वह प्रकाश है जिससे हम देखते हैं, और यह वह प्रकाश है जिसे हम देखते हैं ? इस प्रकाश के अतिरिक्त और कोई ऐसी वस्तु हमारे पास नहीं, जिससे हम उसे देख सकें। यदि हम अपनेको ठीक कर लें तो हम उसे हर जगह देख सकते हैं। हम स्वयं और सारा विश्व उसके अस्तित्व के सनातन साक्षी हैं। वह जीवन का जीवन और आत्मा की आत्मा है। वह हमारे भीतर ही विद्यमान है। हमें समुद्र की गहराई नापने और आकाश गाहने की जरूरत नहीं; उसतक पहुंचने के लिए न स्वर्गारोहण की जरूरत है और न पाताल में अवतरण की। केवल आत्मा को साधने की आवश्यकता है। यदि हम साधारण दृष्टि से ऊपर उठ सकें तो उसे देख लेंगे। हृदय में चिरपोषित अपने भ्रमों को हमें छोड़ना चाहिए। साधारण लोगों की स्थूल बुद्धि को हमें स्थूल मानना चाहिए। ऐहिक चेतना का धार्मिक चेतना में परिवर्तन आवश्यक है। यदि हम ससीमता से मुक्ति पा लें, बौद्धिक स्तर से ऊपर उठ जाएं और आवरण को चीरकर देखें तो हमें ईश्वर के स्पष्ट दर्शन होंगे। ईश्वर के दर्शन के लिए हमें वास्तविकता की लम्बाई-चौड़ाई तथा गहराई, इन तीन आयामों से भिन्न किसी दूसरे ही आयाम (डायमेंशन) में पहुंचना होगा। हमें व्यक्तित्व के बंधन को तोड़ना होगा, और इन्द्रियों के आधिपत्य को शिथिल करना होगा, तभी हमारा अज्ञान दूर हो सकता है। हम पृथक्ता के प्रकाश से मुक्त होते हैं और परमात्मा को उस अलौकिक अंधकार के रूप में दखते हैं, जिससे सारा संसार आप्लावित है। सुरंगमा ने कहा है—"एक ऐसा दिन आया जब मेरे अन्दर बैठे विद्रोही को विदित हुआ कि वह पूर्णतया परास्त हो गया है, और तब नम्रतापूर्वक मैंने आत्मसमर्पण करते हुए भूमि के रजकण को प्रणाम किया। तब मैंने देखा कि वह सौन्दर्य में वैसा ही अप्रतिम है जैसा आतंक में। ओह, मैं बच गई और मेरा उद्धार हो गया !"[१] तब

---

[१] दि किंग ऑव दि डार्क चैम्बर, पृष्ठ ४३

हम देखेंगे कि हमारी साधारण चेतना सच्चा अन्धकार है, और लोकातीत परम सत्ता शाश्वतता की पूर्ण ज्योति है। राजकुमारी कहती है—"तुम्हारे दर्शन से मुझमें अरुचि हुई, क्योंकि मैंने केलि-कुंज में तथा अपनी महारानी के कक्षों में तुम्हें पाने का प्रयत्न किया था। वहां तुम्हारा निकृष्ट-से-निकृष्ट सेवक भी तुमसे अधिक सुन्दर दिखाई देता है। मेरी आंखों की तीव्र अभिलाषा-विषयक विह्वलता सदा के लिए शान्त हो गई है। मेरे भगवान्! तुम सुन्दर नहीं हो—तुम्हारी तुलना नहीं की जा सकती।" जबकि परब्रह्म धार्मिक अन्तर्ज्ञान के लिए बिलकुल स्पष्ट और प्रभायुक्त है, ठंडी बौद्धिकता के लिए अंधकारपूर्ण। अपनी परम श्रेष्ठ चमक के कारण····"वह अंधकारपूर्ण होता है, जैसे कमजोर आंखों के लिए सूर्य की तीव्र ज्योति अंधकार ही है।"[1] 'दि नाइट' में वान ने लिखा है :

जैसे यहां लोग कहा करते हैं कि अब देर हो गई है और झुटपुटा हो गया है, क्योंकि हमें अब साफ नहीं दिखाई पड़ता; उसी तरह कुछ कहा करते हैं कि परमात्मा में गहरा और चौंधिया देनेवाला प्रकाश है। ओह, कितना अधिक मैं उस रात्रि को चाहता हूं, जिसमें मैं उस परमात्मा में धुंधले तथा अदृश्य रूप में रह सकता हूं।

सीमित चेतना के लिए ईश्वर बहुत दूर है, धर्मपरायण आत्मा के लिए वह सर्वथा निकट है। ईश्वर विद्यमान है, फिर भी अविद्यमान है। भगवद्गीता में कहा है, "वह निकट और दूर है।" ईशोपनिषद् में लिखा है, "वह दूर है और निकट भी।" "जब आप सोचते हैं कि वह यहां नहीं है, तब आप दूर, और दूर, भटकते हैं, और गीली आंखों से उसे व्यर्थ ढूंढ़ते हैं। जहां वह दूर है, वहां वह प्राप्य है; जहां वह निकट है, वहां वह परम सुख ही है।" "लोगों ने उसका असीम और अप्राप्य के रूप में गान किया है, किन्तु मैंने तो उसे बिना ही दृष्टि के अपनी ध्यानावस्थाओं में देखा है, "ध्यान धर देखिया नैन बिन पेखिया, अगम अगाध सब कहत गाई।"[2] सन्त तुकाराम लिखते हैं, "हे मानव, तू परमात्मा

---

[1] टेलर

[2] कबीरबानी, १७; देखिये २१ तथा २३ भी

की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान में क्यों घूमता है ? जिस तरह मृग यह नहीं जानता कि उसकी नाभि में अमूल्य कस्तूरी है, उसी तरह तू यह नहीं जानता कि तुझमें क्या है। अपने अन्दर परमात्मा की खोज कर, और वह तुझे मिल जायगा।" रवीन्द्रनाथ कहते हैं, "क्योंकि तुम मेरे हृदय के केन्द्र में थे, इसलिए जब मेरा हृदय भटकता फिरा, तब उसने तुम्हें नहीं पाया।"[१]

जैसे अपने अभीष्ट द्वार पर पहुंचने के लिए यात्री को प्रत्येक अनभिलषित द्वार को खटखटाना पड़ता है, उसी प्रकार अन्त में अन्तरतम मन्दिर में पहुंचने के लिए प्रत्येक को सारे बाह्य संसारों में भटकना पड़ता है।

अपनी आंखों को बन्द करने और 'तुम यहां हो!'—यह कहने से पहले उन्हें दूर-दूर भकटना पड़ा।[२]

इस प्रकार सहज ज्ञान के द्वारा बुद्धि को लांघ कर हम सांसारिक व्यवहार में शिशुवत् सरल तथा भोले हो जाते हैं। तब हमारा ज्ञान प्रज्ञा में परिणत हो जाता है। ईश्वर "इस बात की प्रतीक्षा में रहता है कि मनुष्य प्रज्ञा में अपने शैशव को फिर से कब प्राप्त करता है।"[३]

जैसे स्वप्न में आत्मा की आंखों को खुली रखने के लिए शरीर की आंखें बंद हो जाती हैं, उसी तरह यदि आत्मा की आंखों को खुली रखना है, तो शरीर की आंखों का बंद रहना आवश्यक है। "हां, जब यह सोती है, मन आंखों के साथ चमक रहा होता है।"[४] इस प्रकार रवीन्द्रनाथ, अन्य रहस्यवादियों की तरह, सहज ज्ञान और बुद्धि के पथ में भेद करते हैं—सहज ज्ञान का मार्ग प्रेम से पगा प्रज्ञा का मार्ग है, जबकि बुद्धि-पथ निरीक्षण से प्राप्त ज्ञान का मार्ग है।[५] सहज ज्ञान हमें विज्ञान द्वारा अधीत बाह्य रूपों को भेदकर

---

[१] फ़्रूट गैदरिंग, ६९

[२] गीतांजलि १२

[३] स्ट्रे बर्ड्‌स

[४] ईसकिलस Aeschylus

[५] फ़्रूट गैदरिंग, २०

अन्दर पैठने और वस्तुओं के अन्तर जीवन को देखने का सामर्थ्य प्रदान करता है। सच्चा अनुभव या अन्तर्ज्ञान बलपूर्वक कार्य करानेवाला और असंदिग्ध होता है। 'दि किंग ऑफ दि डार्क चैम्बर' के जनार्दन ने संसार-रचना की सोद्देश्यता की ऐसी युक्ति को जोरदार शब्दों में प्रस्तुत किया है, जो भगवान् को अनुमिति का विषय बनाती है, प्रेक्षण का नहीं। "किन्तु सर्वत्र व्याप्त सुन्दर व्यवस्था तथा नियमितता को देखो—बिना किसी राजा के तुम इसकी व्याख्या कैसे कर सकते हो ?" यह युक्ति केवल वितण्डावाद के लिए दी गई है, क्योंकि इस प्रश्न का समाधान सहज ज्ञान के द्वारा किया जाता है। "आपने राजा का दर्शन किया है या नहीं ? हां या नहीं ?[1] कबीर ने कहा है—"अंध भेदी कहा समझेंगे, ज्ञान के घर तै दूरा।"[2] जो तर्क हमें मिट्टी के तोलने या हवा के मापने में सहायक हो सकता है, वह हमें ईश्वर का रूप नहीं दिखा सकता। सच्ची धर्मपरायण आत्मा तर्क या अनुमान नहीं करती, वरन् मनन करती है और प्रकाश की प्रतीक्षा करती है। कवि, कलाकार और प्रेमी सहज ज्ञान के मार्ग का अनुसरण करते रहते हैं, रहस्यवादी इसे जानता है और दिव्य दर्शन के पूर्ण प्रकाश में जीवनयापन करता है।

(६)

वेदान्त-ग्रंथों में और रवीन्द्रनाथ की कृतियों में परमात्मा की जो विशेषताएं बतलाई गई हैं, उनमें हमें विचार की समानता मिलती है। यह प्रसिद्ध धारणा कि वेदान्त का ब्रह्म सर्वथा निराकार है, मिथ्या है। रवीन्द्रनाथ ने इस मिथ्या धारणा का विरोध किया है। वह कहते हैं, "भारत द्वारा समर्थित अनन्त सत्ता सूक्ष्म आकाश-कुसुम नहीं थी, जिसमें अन्तर्वस्तु का सर्वथा अभाव हो। भारत के ऋषियों ने ज़ोरदार शब्दों में कहा था—"इस जीवन में उसे जानना जीवन के प्रति सच्चा होना है, इस जीवन में उसे न जानना मृत्यु का सूनापन है।" तो हमें उसे कैसे जानना है ? "प्रत्येक में और सबमें उसकी अनुभूति पाकर। केवल प्रकृति में ही नहीं, वरन् परिवार में, समाज में और राज्य में जितना

---

[1] दि किंग ऑफ दि डार्क चैम्बर, पृष्ठ २०

[2] कबीर-बानी, ९७

अधिक हम सबमें विश्व-चेतना का अनुभव करते हैं, उतना ही अधिक हमारे लिए अच्छा है। यदि हम इस अनुभूति में असमर्थ रहते हैं, तो हम नाशोन्मुख हो जाते हैं।"[1] वेदान्त के विचारक ईश्वर को अनुभवातीत संसार की विजनता में स्थान नहीं देते। बोलपुर-विद्यालय में प्रति सायं उच्चरित होने वाला यह मंत्र—"जो परमात्मा अग्नि में है, जो जल में है, जो सारे संसार को भेदकर उसके अन्दर पैठता है, जो औषधियों में है, जो वृक्षों में है, उस परमात्मा को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूं"[2]—उपनिषदों से लिया गया है। जितना वेदान्तियों का पूर्ण ब्रह्म, उतना ही रवीन्द्रनाथ का ईश्वर मूर्त आत्मा है।

वह वहीं है, जहां किसान कठोर भूमि को जोतकर खेती कर रहा है; जहां मजदूर पत्थर फोड़कर रास्ता तैयार कर रहा है।[3]

उपनिषदों के ऋषियों से लेकर सभी मतों और धर्मों के रहस्य-वादी ईश्वर की सर्वान्तर्व्याप्तिता के विश्वास के बारे में एकमत हैं। सेंट पॉल ने कहा है—"वह सबसे ऊपर है, सबके अन्दर से गुजरा हुआ है और सबके अन्दर है।" ऐसा ही हम पढ़ते हैं, "पत्थर को उठा, और वहां तू मुझे देखेगा; लकड़ी को चीर, और मैं उसके अन्दर विद्यमान हूं।" इस प्रकार तर्क करना ठीक नहीं कि वेदान्त का पूर्ण ब्रह्म निष्फल आकाश-कुसुम है और रवीन्द्रनाथ का ईश्वर सगुण सत्ता है, और इसलिए रवीन्द्रनाथ वेदान्ती नहीं हैं। यह तर्क अकाट्य है, केवल तर्क के आधारभूत वाक्य (प्रेमिसेज) तथ्य-विरोधी हैं।

आलोचक यह युक्ति दे सकते हैं कि वेदान्त दर्शन ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में अस्पष्ट है। यह ठीक है कि वेदांत कहता है—ईश्वर सर्वस्व है; किन्तु वह यह भी कहता है—ईश्वर कुछ भी नहीं। 'वह यह नहीं, यह नहीं, (नेति-नेति) रहस्यवाद की यह उलझन, जो ईश्वर को कभी 'सब-कुछ' और कभी 'कुछ भी नहीं' बना देती है, वेदांत की ही विशेषता नहीं, अपितु समस्त रहस्यवादी साहित्य की विशेषता है। रवीन्द्रनाथ की

---

[1] साधना, पृष्ठ २०; देखिये पर्सनेलिटी, पृष्ठ ५६-५७

[2] श्वेताश्वतरोपनिषद्, २।१७

[3] गीतांजलि, ११

कविताएं इस विशेषता से भरपूर हैं। उनके कुछ पृष्ठों में पूर्ण ब्रह्म अमूर्त, निराकार और निर्भय है, किन्तु ऐसा ईश्वर नहीं जो आराधना और पूजा के योग्य हो। यह "अतर्क्य सत्ता है जो नाम और रूप से रहित है।"[१]

किन्तु वहां, जहां आत्मा के मुक्त विहार के लिए अनन्त आकाश फैला हुआ है, निष्कलंक श्वेत दीप्ति का विस्तार है, न दिन है न रात्रि, न रूप है न रंग, और शब्द तो है ही नहीं।[२]

दूसरी ओर इसी कविता में रवीन्द्रनाथ ने सारे विश्व को ईश्वर की अभिव्यक्ति बतलाया है :

तू आकाश भी है और तू घोंसला भी है।[३]

कबीर की सूक्तियों के बारे में भी बहुत-कुछ यही बात सत्य है :

दृष्टि न मुष्टि परगट अगोचर,
वातन कहा न जाई लो।[४]
निराकार निरगुन अबिनासी[५]
जो पहुंचे जानेंगे वोही
कहन सुनन ते न्यारा है।
रूप सरूप कछू वह नाहीं,
ठौर ठांव कछु दीसै नाहीं।
अजर तूल कछु दृष्टि न आई,
कैसे कहूं सुमारा है।[६]

उनके विचार के दूसरे पहलू को प्रकट करने के लिए हम निम्न उद्धरण प्रस्तुत कर सकते हैं :

आपहि बृच्छ बीज अंकूरा,
आप फूलफल छाया।

---

[१] गीतांजलि, ९५
[२] गीतांजलि, ६७
[३] गीतांजलि, ६७
[४] कबीरवाणी, ९
[५] कबीरवाणी, २६
[६] कबीरवाणी, ७६

आप हि सूर किरन परकासा,
आप ब्रह्म जिउ माया ।
अनन्ताकार सुन्न नभ आपै,
स्वांस सबद अरथाया ।
निःअच्छर अच्छर छर आपै,
मन जिउ ब्रह्म समाया ।
आतम में परमातम दरसै,
परमातम में भांई ।
भांई में परछांईं दरसै,
लखै कबीरा सांईं ।[1]

उपनिषद् ऊपरी रूप से ऐसे परस्पर-विरोधी वर्णनों से भरे पड़ हैं, क्योंकि वे भारतीय ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभवों के लिखित विवरण हैं। "वह यह नहीं है, वह वह नहीं है।"[2] "वह न स्थूल है न सूक्ष्म, न छोटा है न दीर्घ, न अग्नि-सा लाल है न पानी-सा तरल; वह परछांईं, अंधकार, वायु, जल, आसक्ति, रस, गंध, नेत्र, श्रुति, वाणी, मन, प्रकाश, श्वास, मुख, परिमाण—इन सबसे रहित है; न उसके कुछ अन्दर है न बाहर; यह कुछ नहीं निगलता है और न कोई इसे निगलता है।"[3] इसके विपरीत दूसरी मनोवृत्ति को प्रकट करने के लिए हम छान्दोग्य उपनिषद् को उद्धृत कर सकते हैं, "अपने जीवन के लिए इस सम्पूर्ण संसार ने परम देवता को धारण किया है। वह देवता सत्य है। वह सार्वभौम आत्मा है। हे श्वेतकेतु, तू वही है !"[4] मुंडक उपनिषद् में लिखा है—"यह अनश्वर ब्रह्म जो दायें-बायें, ऊपर-नीचे, सर्वत्र व्याप्त है, अनन्त विश्व है, सबकुछ है !"[5] इन दो विवरणों के बीच जो विरोध है, वह केवल प्रतीयमान है, वास्तविक नहीं। यदि हम अपनी सान्त बुद्धि के द्वारा परम सत्ता तक पहुंचना चाहेंगें, तो हम

---

[1] कबीरवाणी, ७

[2] बृहदारण्यकोपनिषद्, ३,६

[3] बृहदारण्यकोनिषद्, ३।८,४।४-२२

[4] बृहदारण्यकोनिषद्, ११।७

[5] बृहदारण्यकोपनिषद्, २।११; श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।२-४ भी देखिये

अपने प्रयत्नों में असफल रहेंगे। केन उपनिषद् में लिखा है—"यह ज्ञात से अतिदूर है, और अज्ञात से अत्युच्च।" तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है—"मन को साथ लेकर चलनेवाले शब्द इसे समझे बिना लौट आते हैं।" पूर्ण निरपेक्ष एकता बौद्धिक द्वैत के विरुद्ध है, और परम सत्ता का बौद्धिक विवरण नकारात्मक, 'नेति-नेति' रूप रह जाता है। किन्तु जब हम बुद्धि के तल से धर्म, काव्य और दर्शन के क्षेत्र में ऊंचे उठ जाते हैं, हम अपने सम्मुख उसका स्पष्ट दर्शन कर लेते हैं। जब हम यह कहते हैं कि परम सत्ता बुद्धि की पहुंच से परे है, तब हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि बुद्धि परम सत्ता के विरुद्ध है। केवल परम सत्ता में ही बुद्धिवाद की सफलता है। "प्रेम में सत्ता के सारे विरोध अपनेको विलीन कर देते हैं और समाप्त हो जाते हैं। केवल प्रेम में ही एकता तथा द्वैत की असंगति नहीं होती।"[1] सहज ज्ञान के स्तर पर—सहज ज्ञान की दृष्टि से परम सत्ता सब-कुछ अपने अन्दर समा लेनेवाला प्रेम है, जिससे हम घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं, जिसे हम प्रेम कर सकते हैं और जिसकी आराधना और पूजा कर सकते हैं। परम सत्ता सम्पूर्ण विश्व है। सृष्टि परमात्मा का नृत्य या लीला है। "करता आनन्द-खेल लाई ओंकार ते सृष्टि उपाई॥ आनन्द धरती· · · ॥ खेल का यह सकल पसारां। खेल मांहि रहै संसारा ॥[2]

(७)

अब प्रश्न यह उठता है, क्या रवीन्द्रनाथ का ईश्वर वैयक्तिक है, वेदान्त-सम्मत व्यक्तित्वहीन ब्रह्म नहीं? हां, 'गीतांजलि' में परमात्मा को व्यक्ति माना है। अपने विकास की परम्परा में वेदान्त-दर्शन ने भी इस प्रकार का विचार प्रतिपादित किया है। कला, दर्शन, धर्म ऐसी विशिष्ट प्रणालियां हैं, जिनके माध्यम से ब्रह्म अपनेको मनुष्य-जाति के सम्मुख उपस्थित करता है। क्योंकि मनुष्य त्रित्व है, इसलिए परमात्मा भी त्रित्व है। मानवीय व्यक्तित्व बुद्धि, संवेग तथा संकल्प का समवाय है, और परम आदर्श, भाव, संकल्प और तर्क को संतुष्ट करने के लिए, परम सौन्दर्य, परम शिव तथा परम सत्य के रूप में प्रकट होता है;

[1] साधना, ११४ [2] कबीरवाणी, ८२

और क्योंकि मानवीय व्यक्तित्व तीन का समवाय है, और क्योंकि ये तत्त्व एक-दूसरे से संघर्ष नहीं कर सकते, और क्योंकि इनमें से कोई-सा एक अपने विचार को पूर्ण नहीं कर सकता, यदि वह स्वयं अपने और दूसरे दो के रूप में संगठित नहीं होता। ऐसा होने पर भी परम आदर्श के अन्दर विद्यमान सत्य, सौन्दर्य तथा शिव इन विभिन्न पहलुओं में कोई बेसुरापन नहीं है। यह आदर्श परम सौन्दर्य के रूप में आनन्द के लिए, परम सत्य के रूप में ज्ञान के लिए, और परम शिव के रूप में संकल्प के लिए, मनुष्य की क्षमता के अनुसार, अपने-आपको दर्शाता है। तीनों की अन्तर्वस्तु भिन्न नहीं होती, यद्यपि उनका रूप भिन्न होता है। कला, दर्शन और धर्म पूजा के विभिन्न रूप और अभिव्यक्तियां हैं तथा परमात्मा को प्राप्त करने के विभिन्न मार्ग हैं। विशेष विधि मनःप्रकृति-सम्बन्धी उन विशेषताओं पर निर्भर है, जिनके द्वारा स्रष्टा ने मानव-स्वभाव को समृद्ध किया है। समस्त आत्माएं—सन्त, साधु तथा ऋषि—परमात्मा से एकाकार होने का प्रयत्न करते हैं। रहस्य-वादी आत्माएं, जिनके मन भावना-प्रधान तथा कल्पना-प्रधान हैं, अपनी भक्ति को प्रेम, पूजा तथा आराधना के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। वे अपने प्रेम के विषय का मानवीयकरण कर देती हैं। रवीन्द्रनाथ में कला-पक्ष की प्रधानता है। उनके कल्पना-वैभव, उनकी अनुभूति की प्रबलता और उनके भावातिरेक की तीव्रता के कारण उनके शब्द संगीत तथा कविता में परिवर्तित हो जाते हैं। गीतांजलि की कविताएं अनन्त के प्रति सान्त का समर्पण हैं। दोनों के बीच प्रेमी और प्रेमिका के सम्बन्ध की कल्पना की गई है—संसार-भर के रहस्यवादियों द्वारा यही उपमा प्रस्तुत की गई है। समस्त रहस्यवादी साहित्य में यह उपमा जीवात्मा और परमात्मा के सच्चे संबंध को व्यक्त करने के लिए काम में लाई गई है। कृष्ण के प्रति राधा की भाव-प्रवण अनुरक्ति परमात्मा के प्रति आत्मा की तीव्र लालसा की प्रतीक है। जब कृष्ण, सारी सृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए, अपनी बांसुरी पर दिव्य संगीत गाते हैं, राधा उसे तन्मयता से सुनती है और उसपर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देती है। मानवीय प्रेम का यह सादृश्य इस बात में है कि पूर्ण प्रेम में दो होते हुए भी वे एक ही कहलाते हैं—लौकिक प्रेम

में पुरुष और स्त्री दो होते हैं, फिर भी उनकी जीवनधारा एक ही होती है।[1]

आत्मा का उत्सर्ग, प्रेम की पूर्ति और दूसरी आत्मा से प्रेम—ऐक्य—ये मानवीय प्रेम की विशेषताएं हैं, और ये ही ब्रह्म की प्राप्ति की लालसा में भी विद्यमान हैं। किन्तु यदि हम इस उदाहरण को बहुत दूर ले जाने का प्रयत्न करते हैं, तो हम कठिनाइयों में फंस जाते हैं। अन्तिम रूप में मस्तिष्क तथा हृदय में, तर्क तथा विश्वास में, विच्छेद नहीं रहेगा।[2] रवीन्द्रनाथ ने इस बात को स्वीकार करने में काफी बुद्धिमत्ता की है कि जिस वेदान्त-सम्मत ब्रह्म को वह अन्तिम दार्शनिक एकता मानते हैं, वह बौद्धिक वर्णन से परे है। किन्तु क्योंकि वह कलाकार हैं, इसलिए वह अपने आध्यात्मिक अनुभवों को प्राकृतिक प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। उनकी भाषा लाक्षणिक है, और यदि उनकी अक्षरशः व्याख्या की जाय तो उससे जो भाव प्रकट होंगे, वे असंगत और परस्पर-विरोधी होंगे। कुमारी एवेलिन अंडरहिल ने 'कबीरबानी' की प्रशंसनीय भूमिका में यह टिप्पणी की है, "रहस्यवादी साहित्य की यह महत्त्वपूर्ण

---

[1] फारसी के कवि का गीत है :

"आंखें चार हुईं। दो आत्माओं में परिवर्तन हुए। और अब मैं यह स्मरण नहीं कर सकता कि वह आदमी है और मैं स्त्री हूं, या वह औरत है और मैं आदमी हूं। जो कुछ मैं जानता हूं वह यह है कि पहले दो थे, प्रेम हुआ और अब एक हैं।

रवीन्द्रनाथ ने लिखा है : "प्रेम में तुम्हें इसका एक पक्ष वैयक्तिक मिलेगा, दूसरा अवैयक्तिक। एक ओर तुम्हारा साकारात्मक कथन होता है—मैं हूं; दूसरी ओर समान रूप से दृढ़ अस्वीकृति होती है—मैं नहीं हूं। इस अहं के बिना प्रेम क्या है ? दूसरी ओर यह भी बात है कि इस अहंभाव के होने मात्र से प्रेम कैसे सम्भव है ?"

—साधना, पृष्ठ ११४-११५

[2] तुलना कीजिये—

"सौन्दर्य, शिव तथा ज्ञान तीन बहनें हैं,
वे एक-दूसरे के प्रति प्रेम में पागल हैं, मनुष्य की मित्र हैं,
वे एक ही छत के नीचे एक साथ रहती हैं,
और आंसुओं के बिना एक-दूसरे से कभी भी पृथक् नहीं की जा सकतीं।"

—टैनिसन, 'पैलेस ऑव आर्ट'

विशेषता है कि जब महान् अनुध्यानी, अगोचर सत्ता से अपने मिलन के स्वरूप को, हमें बतलाने का प्रयत्न करते हैं, तब उन्हें ऐन्द्रियिक कल्पना और अलंकार-योजना के किसी रूप को प्रयोग में लाने के लिए विवश होना पड़ता है, यद्यपि वे जानते हैं कि ऐसी अच्छी-से-अच्छी कल्पना और अलंकार-योजना भी स्थूल और अपरिशुद्ध होती है।" गीतांजलि की कविताओं से यदि हम यह अनुमान करें कि परमात्मा मनुष्य के ऊपर उसके विरुद्ध एक व्यक्ति है, तो हम गलती करेंगे। रवीन्द्रनाथ के लिए परमात्मा वह सत्ता नहीं, जो बहुत ऊंचे स्वर्ग में स्थित है; वरन् वह एक आत्मा है जो मानवों और समस्त जीवन-संसार में अन्त-र्व्याप्त है। रवीन्द्रनाथ का प्रेम लिंगातीत आध्यात्मिक प्रेम है, जो अधिकतर संसार के लिए दुरूह है—वह एक ऐसा प्रेम है, जो अंधकार में घुल-मिलकर लुप्त हो जाने के लिए ब्रह्मरूपी समुद्र में अपनेको खो देता है, या जो श्वेत प्रातःकाल की मुस्कराहट में, या पारदर्शक पवित्रता की शीतलता में, विद्यमान हो सकता है।"[१] दर्शन द्वारा प्रति-पादित ब्रह्म, भक्ति-सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए धर्म के क्षेत्र का ईश्वर बन जाता है। ईश्वर ब्रह्म की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है, जो विश्व का व्यक्तिगत प्रभु है। प्रेमी और प्रेमिका का भेद तबतक बना रहता है, जबतक पूर्ण प्रेम में दोनों एक नहीं हो जाते। तब व्यक्तिगत ईश्वर ब्रह्म में घुल-मिलकर लुप्त हो जाता है। यदि रवीन्द्रनाथ को व्यक्तिगत ईश्वर के पुजारी के रूप में देखा जाय, तो उन्हें उन धार्मिक भक्तों की लम्बी तथा उदात्त उत्तरोत्तरता में सजीव उदाहरण समझा जा सकता है, जिनपर भारत को उचित ही गर्व है और जिनमें से कुछ हैं मानिक्कवसागर, रामानुज, नामदेव, वल्लभ, कबीर, चण्डीदास, चैतन्य, नानक, दादू, तुलसीदास और तुकाराम। भक्ति-सम्प्रदाय का जबसे भारत में प्रारम्भ हुआ, तभी से इसका निरन्तर इतिहास मिलता है। डा० मैक्निकोल ने कहा है—"ईश्वरवाद की परम्परा इस देश में प्राचीनकालिक और देशज है।····किसीको भी यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि भक्ति शब्द से जो भाव व्यक्त होते हैं,

[१] गीतांजलि, ८०

उनका भारत में विदेश से आयात किया गया।"[1] जो आलोचक यह कहते हैं कि रवीन्द्रनाथ ने ईसाई मत से बहुत-कुछ ग्रहण किया है, उनमें वास्तव में आश्चर्यजनक रूप से 'ऐतिहासिक चेतना' का अभाव है—वास्तव में यह ऐसा दोष है, जो भारतीयों पर प्रायः लगाया जाता है। दर्शन के ब्रह्म और धर्म के ईश्वर, दोनों का ही वेदान्तदर्शन में स्थान है। जो लोग इन दोनों को एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न बताते हैं, वे वास्तव में वेदान्तदर्शन को नहीं समझते। श्री रिचर्ड गार्बे ने भगवद्गीता के सम्बन्ध में जोकुछ कहा है, वह वेदान्त के दूसरे साहित्य के सम्बन्ध में भी सत्य है : "जो सिद्धान्त कृष्ण द्वारा प्रतिपादित बतलाये जाते हैं, वे सर्वेश्वरवादी तथा एकेश्वरवादी विचारों के, दार्शनिक विचारों के तथा परमात्मा में शुद्ध एवं गंभीर धार्मिक विश्वास के अद्भुत मेल को प्रदर्शित करते हैं।"[2] सान्त व्यक्ति निराकार ब्रह्म को साकार सत्ता के रूप में विचारने के लिए बाध्य होता है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि जो ब्रह्म सौन्दर्य तथा कुरूपता, सत्य तथा असत्य, सत् तथा असत् इन विरोधी युग्मों से अतीत है, वह मनुष्य के लिए पूर्ण सौन्दर्य, पूर्ण सत्य और पूर्ण शिव के रूप में प्रकट होता है। पूर्ण ब्रह्म अपूर्ण सत्ता के प्रेम के लिए अपनेको सौन्दर्य से सुसज्जित करता है। महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर की आत्मकथा में उद्धृत निम्न अवतरण[3] सांतता के कारण होनेवाली आत्मा की परिभ्रांति के लिए भक्त के योगदान को सुन्दर रूप से चित्रित करता है :

हे संसार के आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक, तू निराकार है,
तो भी मैंने मनन में तेरी प्रतिमा की कल्पना की है;

---

[1] इण्डियन थीइज़्म, पृ० २७५। रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—भारतीय ब्रह्म-विद्या में हमें दो विरोधी विचारधाराएं दिखाई पड़ती हैं : निर्गुण-निराकार ईश्वर और सगुण-साकार ईश्वर, अद्वैतवाद तथा द्वैतवाद। पूजा तबतक सम्भव नहीं, जबतक हम द्वैतवाद को स्वीकार नहीं करते; और तबतक भक्ति नहीं हो सकती, जबतक हम 'एक' पर अपना ध्यान नहीं जमाते।" —('मॉडर्न रिव्यू', अगस्त १९१३) ये दोनों एक ईश्वरत्व को दो रूप हैं।

[2] एनसाइक्लोपिडिया ऑफ रिलिजन एण्ड ऐथिक्स—भाग २; पृष्ठ ५३६

[3] स्ट्रे बर्ड्स, ६२

मैंने प्रशंसा के शब्दों का प्रयोग करके तेरी अनिर्वचनीयता की उपेक्षा की है।

मैंने तीर्थ-यात्राएं करके, और दूसरे तरीकों से तेरी सर्व-व्यापकता पर आघात किया है।

हे सर्वशक्तिमान् परमात्मन् ! आत्मा की परिभ्रांति के कारण जो ये तीन अतिक्रमण मैं कर चुका हूं, उनके लिए तुझसे क्षमा-याचना करता हूं।

: २ :

रवीन्द्रनाथ टैगोर का दर्शन—२

जीवन-श्वास अमरत्व का श्वास है। शरीर भस्मसात् हो जाता है। अरी मेरी संकल्प-शक्ति, तू अपने कार्यों का स्मरण कर! हे परमात्मन्, हे अग्नि, आप समस्त कार्यों के ज्ञाता हैं। आप उनकी पूर्ति के लिए हमें सन्मार्ग पर चलायें! हमें आप कुटिल पाप से दूर रक्खें! हम आपको नमस्कार करते हैं!

—ईशोपनिषद्

जो कोई संसार के जीवन का उत्तरदायित्व ग्रहण करता है तथा अपने जीवन का बलिदान करता है, वह, इस प्रकार मरता हुआ भी, जीता है।

—स्विनबर्न

तथ्य का ज्ञान करानेवाली वास्तविक सूक्ष्म दृष्टि की प्राप्ति धर्म का लक्षण है। वह सूक्ष्म दृष्टि हमें तभी प्राप्त हो सकती है, जब हमारी आत्माओं का इस प्रकार विस्तार हो कि हमारे अन्दर अखिल विश्व के लिए आत्मीयता की अनुभूति जाग्रत हो जाय। आत्मा का यह विस्तार—'अनुभूति की यह व्यापकता'—न तो हम अपनी धन-सम्पत्ति की वृद्धि से प्राप्त कर सकते हैं और न अपने प्रभुत्व के विस्तार से, वरन् यह विस्तार तो अपने सान्त तथा सीमाबद्ध 'स्व' को त्यागने से ही हो सकता है। तथापि चैतन्य के स्वातन्त्र्य की इस प्राप्ति के लिए हमें मूल्य चुकाना पड़ता है। वह मूल्य क्या है? मूल्य है आत्म-त्याग। वास्तव में हमारी आत्मा अपनेको तभी प्राप्त कर सकती है, जबकि यह अपना त्याग करती है। उपनिषद् में लिखा है: "तुम्हें त्याग के द्वारा उपलब्धि होगी। तुम्हें लोभ नहीं करना चाहिए।"[1] "हमारे अन्दर अनन्त का चैतन्य है—यह बात तभी सिद्ध होती है, जब हम अपनी प्रचुर धन-सम्पत्ति के प्रति आत्मीयता की भावना से

---

[1] साधना, पृष्ठ १९

मुक्ति में आनन्द अनुभव करते हैं। और तब हमारा कर्तव्य होता है स्वत्व-त्याग, अर्थात् संन्यास की ओर प्रगति; यह हमारे जीवन का अभिन्न रूप ही हो जाता है। यह नदी के उस प्रवाह की तरह है, जो स्वयं नदी ही है।"[१] आध्यात्मिक सफलता 'दे डालने' अर्थात् स्वत्व-त्याग में है। संसार की तनिक भी परवाह किये बिना ही हम इसपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। यह विचार दीपक और तेल की उपमा से स्पष्ट किया गया है। "दीपक अपने तेल को धारण करता है, उसे वह पूर्णतया सुरक्षित रखता है और उसका तनिक भी क्षय नहीं होने देता। इस प्रकार वह अपने चारों ओर के दूसरे सभी पदार्थों से पृथक् है और कृपण है। किन्तु जब उसे जलाया जाता है तो वह तुरन्त अपने अर्थ को प्राप्त कर लेता है, पास और दूर की सभी चीजों से उसका सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, और वह ज्वाला को प्रज्वलित करने के लिए अपने तेल के कोश को, मुक्त रूप से, उत्सर्ग करता है।"[२] अहं की समाप्ति होने पर प्रेम की तुष्टि होती है। आत्म-केन्द्रित जीवन ईश-केन्द्रित हो जाता है। यह कहा जाता है कि यदि मनुष्य परमात्मा को नहीं देखेगा तो जीवित नहीं रहेगा। निश्चय ही जीवित नहीं रहेगा। किन्तु जबतक मनुष्य मनुष्य है, वह उसे नहीं देख सकता। जब वह उसे देख लेता है, वह मानव नहीं रहता।[३] उस विशालता और भव्यता के सम्मुख मानव का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। उस समय सर्व-व्यापी प्रेम व्यक्ति की चेतना पर आक्रमण करता है और उसपर छा जाता है। उस समय उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व—देह, मन और आत्मा—परमात्मा के प्रति समर्पित हो जाता है।

नीले आकाश से एक आंख मुझे टकटकी लगाकर देखेगी और

---

[१] पर्सनेलिटी, पृष्ठ ६३

[२] साधना, पृष्ठ ७६

[३] "सान्त जीवों के लिए निरपेक्ष की सत्ता की पूर्ण अनुभूति असम्भव है। इस प्रकार उसे जानने के लिए हमें अस्तित्व में आना पड़ता है और उसके बाद हमारी सत्ता समाप्त हो जाती है।" (ब्रैडले : एपीयरेंस ऐंड रीयलिटी)

मुझे मौन निमंत्रण देगी। मेरे लिए कोई चारा नहीं होगा, कोई चारा नहीं होगा और मैं तेरे चरणों में पूर्ण निर्वाण प्राप्त करूंगा।[1]

परम आनन्द की यह अवस्था "मृत्यु नहीं, वरन् पूर्णता है।" यह चेतना की पूर्णता है, जिसमें न तो दृष्टि को धुंधला करनेवाली धूल है और न अंधकार। यह पूर्ण स्वच्छता और पारदर्शकता की अवस्था है जिसमें से परमात्मा की किरणें बिना किसी विघ्न-बाधा के आ-जा सकती हैं। यह पूर्ण सामंजस्य, पूर्ण प्रेम और परम आनन्द है। इस सर्वव्यापी चेतना में सान्त और अनन्त आलिंगित होकर एकाकार हो जाते हैं। "एक आकाश की तरह अन्तर और बाह्य दोनों एक हो जाते हैं जैसे असीम और ससीम दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।"[2] (बाहरा-भीतरा एक आकासवत। घरिया में अधार भरपूर लागी।।) यह सर्वनाश नहीं, वरन् आत्मा की लोकोत्तरता, आत्मा की अत्युत्कृष्टता है। यह अनन्त जीवन है। "यह प्रातःकाल के प्रकाश में दीपक की निष्प्रभता है, यह सूर्य का विनाश नहीं।"[3] 'नैटलशिप' के इस अवतरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी—"कल्पना करो कि सारे मनुष्य एक-दूसरे के प्रति हमेशा ही इस प्रकार की अनुभूति रखते थे जैसी वे आजकल कभी-कभी उनके प्रति रखते हैं, जिन्हें वे सबसे अधिक प्यार करते हैं। भलाई करने से संसार की सारी पीड़ा निगीर्ण हो जायगी। जहांतक हम ऐसी अवस्था की कल्पना कर सकते हैं, यह अवस्था वह होगी, जिसमें व्यक्तियों का सर्वथा अभाव होगा; किन्तु इस अवस्था में, एक-दूसरे में और एक-दूसरे के लिए, केवल एक ही (व्यक्तित्व-शून्य) विश्व-सत्ता होगी। जिसमें सत्ता ने चेतना का रूप धारण किया था, वह चेतना दूसरे की वह चेतना हो सकती थी जो स्वयं उस चेतना से अभिन्न थी, अर्थात् एक सामान्य चेतना। संसार का प्रायश्चित्त इसी प्रकार का हो सकता था।" बर्नर्ड बोसान्के हमसे उस मनोवृत्ति पर विचार करने के लिए कहता है, जो मनोवृत्ति काव्य-कला की किसी

---

[1] गीतांजलि, पृष्ठ ९८

[2] कबीरवाणी, १७, देखिये 'साधना', पृष्ठ ४३ भी

[3] साधना, पृ० ८२; बृहदारण्यक उपनिषद्, ४। ३,२१

सर्वोत्कृष्ट रचना के पढ़ने से हमारे अन्दर पैदा हो जाती है। "जब शेक्सपीयर या बिथोवन क्षण-भर के लिए आप पर अपना जादू कर देता है,उ स समय आप कठिनाई से अपने-आपको पहचान पाते हैं।"[१] मानवीय जीवन में हम शीघ्र ही आत्म-विस्मरण की इस अवस्था से लौट आते हैं, किन्तु परमानन्द की सर्वोच्च अवस्था में हम इस अवस्था के सातत्य को प्राप्त कर लेते हैं। चरम अवस्था निरपेक्ष के व्यक्त अंग के रूप में व्यक्तित्व का पूर्णतया रूप-परिवर्तन है। उस समय स्वतन्त्र मिथ्या संकल्प-शक्ति नष्ट हो जाती है; परमात्मा के सम्मुख संकल्प-शक्ति का पूर्ण समर्पण उस संकल्प-शक्ति को दिव्य बना देता है। हम इस अवस्था को, पार्थक्य से नहीं वरन् समावेश से, बहिष्करण से नहीं अन्तर्भाव से, प्राप्त करते हैं। इसलिए यह जीवन की पूर्णता है। "जीवन पूर्णता में समाप्त हो जाता है।"[२] व्यक्ति अपने अन्दर अनन्त की अनुभूति का प्रयत्न करता है, इसकी पूजा करता है, प्रेम से इसका आलिंगन करता है और अन्त में इसके साथ एक हो जाता है। इस उद्देश्य के प्राप्त होने तक मनुष्य सांसारिकता में फंसा रहता है। जब इसकी प्राप्ति हो जाती है, तब मनुष्य को परमात्मा से पृथक् रखने-वाला उसका मिथ्या व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। "जब कोई तुझे जान लेता है तब उसके किसी विरोधी की सत्ता नहीं रहती, तब कोई दरवाजा बन्द नहीं रहता।"[३] तब आत्मा मृत्यु या उससे भी अधिक भयानक लगनेवाली किसी भी चीज का मुकाबला करने के लिए तैयार रहती है। क्योंकि तब यह उस अनन्त जीवन की सहभागी बनती है, जिसे मृत्यु पराजित नहीं कर सकती। "मेरा सम्पूर्ण शरीर और मेरे अंग उसके स्पर्श से पुलकित हो गये हैं, जो स्पर्शातीत हैं; और यदि इस अवस्था में मृत्यु आती हो, तो आये।"[४] अनन्तता की श्वेत चमक उसे भर देती है, और उसके हृदय में तीव्र उत्साह और उसकी

---

[१] गिफ्फर्ड लेक्चर्स—भाग १, पृष्ठ २६०

[२] फ्रूट गैदरिंग, ५४

[३] गीतांजलि, पृष्ठ ६३; देखिये बृहदारण्यक उपनिषद् २।४,१४ भी

[४] गीतांजलि, ९६

आत्मा में संगीत की स्थापना कर देती है। वह अनन्त यौवन और शक्ति से सम्पन्न हो जाता है, और संसार को प्रकाश से भर देता है।[1]

(२)

अनन्त जीवन के इस मत के साथ-ही-साथ, हमें पुनर्जन्म के सिद्धान्त के भी दर्शन होते हैं :

जब माता बच्चे को अपने दायें स्तन से अलग करती है, वह रोने लगता है, जबकि अगले ही क्षण बाएं स्तन से उसे सान्त्वना मिल जाती है।[2]

मृत्यु जीवन से वैसे ही सम्बद्ध है जैसे जन्म।

चलने का अभिप्राय जिस तरह कदम उठाना है, उसी तरह कदम रखना भी है।[3]

भारतीय दार्शनिकों की तरह, रवीन्द्रनाथ भी, उद्देश्य की सिद्धि-पर्यन्त, व्यक्तियों की क्रमिक पूर्णता में विश्वास रखते हैं। उद्देश्य की प्राप्ति से पूर्व, आत्मा को बहुत-से जीवनों में से गुजरना पड़ता है। "तूने मुझे अन्तहीन बनाया है, इसीमें तेरी प्रसन्नता है। इस भंगुर पात्र को तू बारम्बार रिक्त करता है और इसे सदा नवजीवन से भी पूर्ण करता है। मेरी यात्रा में जो समय लगता है, वह दीर्घ है, और उसका मार्ग भी दीर्घ है। मैं प्रकाश की प्रथम किरण के रथ पर सवार होकर बाहर आया, और मैंने बहुत-से तारों और ग्रहों पर अपनी यात्रा की लीक बनाई और अनेक संसारों की मरुभूमियों में से अपनी यात्रा जारी रक्खी।[4] पूर्णता की ओर प्रगति में मनुष्य को, अपनी काया के क्षीण हो जाने के कारण, फिर से नया शरीर धारण करना पड़ता है, और यह पुनर्नवीकरण ही मृत्यु है। "यह तू ही है, जो दिन की थकी हुई आंखों पर रात्रि का पर्दा डाल देता है कि जिससे जागरण के नवीन आह्लाद में उनमें नवीन दृष्टि आ जाय।[5] मृत्यु केवल अधिक उन्नत

[1] साधना, पृष्ठ १४; भगवद्गीता, २५५-५८

[2] गीतांजलि, ९५

[3] स्ट्रे बर्ड्स, २६८

[4] गीतांजलि, १ और १२

[5] गीतांजलि, २५

और अधिक पूर्ण जीवन के लिए ही तैयारी है।

आगामी जीवन के सम्बन्ध में, रवीन्द्रनाथ का वही मत है, जो उपनिषदों के उन ऋषियों का है, जो अमरता और पुनर्जीवन को दो भिन्न रूपों में मानते हैं—पूर्णता का जीवन और वह जीवन, जो अन्तहीन है तथा निरन्तर चलता रहता है। ये दोनों ही जीवन अपने-अपने क्षेत्र में मानने-योग्य हैं। जबतक मनुष्य सान्त और ससीम है और अपने स्वार्थी स्वभाव का त्याग नहीं करता है, तबतक उसका प्रारब्ध चरितार्थ नहीं होता; और जबतक उसे परमात्मा के साथ एक होने का चरमोत्कर्ष प्राप्त नहीं होता, तबतक वह नैतिक जीवन को अपनाकर उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कठिन प्रयत्न करता रहता है, जिसे वह प्राप्त नहीं कर पाता है। वह हमेशा ही अपने उद्देश्य के समीप बना रहता है, परन्तु उसे कभी प्राप्त नहीं करता है। कांट के मत में यदि ससीम सत्ता इस असम्भव कार्य को करना चाहती है तो उसके लिए अनन्त समय पर्याप्त नहीं है। जबतक मनुष्य ससीम और क्षणभंगुर व्यक्तित्व के साथ ऐक्य और अभिन्नता बनाये रखता है तब तक वह अंतहीन विकास-क्रम और शाश्वत सामीप्य के नियम से बद्ध रहता है। जैसा कि भारतीय मानते हैं, वह जन्म-मरण के चक्र में बंधा रहता है। वह एक जीवन से दूसरे जीवन को प्राप्त करता है, मृत्यु जीवन में केवल एक गौण घटना-मात्र हो जाती है। मृत्यु का रूप होता है, एक दृश्य से दूसरे दृश्य में परिवर्तन। किन्तु जब व्यक्ति सार्वभौम जीवन के प्रति पूर्णरूप से आत्मसमर्पण कर देता है, और आत्मा परम आत्मा के साथ मिलकर एक हो जाती है, तब वह व्यक्ति स्वर्ग के परम आनन्द को प्राप्त करता है और अनन्त जीवन का भागी बनता है। वह जीवन-मरण की यातना से मुक्त कर दिया जाता है और समय के उस अनुक्रमण से भी मुक्त कर दिया जाता है, जिसके साथ मौत की ही एकमात्र संगति है। जिस नैतिक जीवन में व्यक्ति उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है, वह जीवन समय का अन्तहीन अनुक्रमण है, जिसका सम्बन्ध सान्त से है; किन्तु जब नैतिक जीवन धर्म में निगीर्ण हो जाता है, तब आत्मा काल का अतिक्रमण कर जाती है, और कालातीत के परिमाण से शून्य अमरता को प्राप्त कर लेती है।

(३)

कवि की दृष्टि में 'निरपेक्ष' (पूर्ण ब्रह्म) एक ऐसा 'सप्राण अवयवी' है, जो पदार्थ के विभिन्न तत्त्वों, जीवन, चेतना और बुद्धि से बना हुआ है। ये तत्त्व अवयवी की अभिव्यक्तियां हैं; किन्तु यदि वे 'अवयवी' का स्थान ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं, तो ये वास्तव में माया बन जाते हैं। 'निरपेक्ष' के अवयवों के रूप में ये तत्त्व वास्तविक हैं; किन्तु यदि ये इससे असम्बद्ध होते हैं, तो मायिक—भ्रमात्मक—होते हैं। संसार का वास्तविक स्वरूप क्या है और उसमें मनुष्य का क्या स्थान है—इस बात का अज्ञान अविद्या है। यह अविद्या हमें माया के बन्धनों में बांध देती है। उस समय सान्त सत्ता दीन बन जाती है और प्रकृति ऐसा बन्धन हो जाती है, जिससे हमें मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। माया के संसार में हमारा व्यक्तित्व चरम सत्य प्रतीत होता है, किन्तु यदि हम इस भ्रम पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, तो हमें अनुभव होता है कि हमारी व्यक्तिगत चेतना सार्वभौम चेतना की अनुपम अभिव्यक्ति है। "प्रत्येक वस्तु में माया और सत्य का यह द्वैत है। यदि हमारी आत्मा केवल वैयक्तिक और सान्त है, और यदि यह अपने पार्थक्य को निरपेक्ष समझती है तो माया है; यदि यह सार्वभौम और अनन्त सत्ता में—परमात्मा और सर्वात्मा में—अपनेपन को निहित समझती है तो यह सत्य है।"[1] देवीभागवत पुराण में लिखा है कि जब शक्ति संसारोन्मुख होती है तब वह माया होती है; जब वह ईशोन्मुख होती है, तो वह ईश के रूप में दिखाई पड़ती है।[2] यह सोचना उचित नहीं कि संसार की स्वतन्त्र सत्ता है। "यह संसार-रूप संगीत क्षण-भर के लिए भी कभी इसके गायक से पृथक् नहीं किया जा सकता। संगीत और संगीत के गायक एक-दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते।"[3] विश्व की लीला परमात्मा के चारों ओर केन्द्रित है।

बांसुरी बजानेवाला अदृश्य होकर सबके बीच बांसुरी बजाता है।

---

[1] साधना, पृष्ठ ८५

[2] फ्रूट गैदरिंग, ५

[3] साधना, पृष्ठ १४३

और हम उन्मत्त हो जाते हैं और नाचते हैं।[1]

यदि हम दोनों को पृथक् करते हैं, तो हम यथार्थ सत्ता को ससीम और असीम, इन दो काल्पनिक सत्ताओं में विभक्त कर देते हैं। वास्तव में ये दोनों ही अयथार्थ और भ्रामक हैं। केवल-मात्र ससीम सत्ता 'प्रकाशरहित दीपक' और 'संगीतशून्य वीणा' के समान है। केवल-मात्र अनन्त सत्ता भी 'पूर्ण रिक्तता' है। दोनों अपने संयोग में ही यथार्थ हैं। "जैसे गीत और उसका गायक एक हैं, उसी तरह अनन्त और सान्त एक हैं।"[2] सान्त के साथ विवाह-सम्बन्ध में जुड़ जाने पर ही अनन्त सृष्टि कर सकता है; यदि दोनों पृथक् रहें तो अनन्त सृष्टि नहीं कर सकता। केवल बहुत्व के द्वारा ही परमात्मा की एकता का अनुभव किया जाता है। "यदि यथार्थ का अर्थ गलत समझ लिया जाय और उसपर ठीक बल न दिया जाय, तो वह अयथार्थ हो जाता है।"[3] इस प्रकार माया ऐसी मनोलीला है, जो है भी और नहीं भी।

(४)

जब हम प्रकृति और समाज के वास्तविक महत्त्व को समझ लेते हैं, तो हमें पता चलता है कि उनका उद्देश्य हमें अनन्त तक पहुंचने के योग्य बनाना है। उद्देश्य की प्राप्ति, ऐन्द्रियिक संसार के झंझटों से छुटकारा पाकर नहीं, वरन् उन्हें आध्यात्मिकता का रूप देकर ही, हो सकती है। रवीन्द्रनाथ टैगोर शरीर को आत्मा का बंदीगृह या कब्र नहीं समझते, जिससे कि इसे छुटकारा दिलाने की आवश्यकता हो। उनके विचार में मनुष्य प्रकृति के साथ बंधा हुआ है, मनुष्य की आत्मा भौतिक इन्द्रिय-संस्थान से संबद्ध है। आत्मा का शरीर से सम्बन्ध आत्मा की पवित्रता को कलंकित करनेवाला नहीं, वरन् उसके स्वरूप के विकास के लिए आवश्यक शर्त है। प्रकृति अपने-आपमें बुरी नहीं, इसका अच्छा या बुरा होना दूसरी बातों पर निर्भर है। यदि व्यक्ति अपनी विषयासक्ति से सन्तुष्ट है, और वह अपनी दृष्टि को परमात्मा की

[1] दि साइकिल ऑफ स्प्रिंग

[2] पर्सनेलिटी, पृष्ठ ५६-५७

[3] स्ट्रे बर्ड स, २५४

ओर उन्मुख नहीं करता है, तो प्रकृति उसके लिए मोहक हो जाती है। इसके अतिरिक्त यदि इसे उच्च आत्मा का उपकरण बनाया जाता है, तो उसके विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अपने-आपमें प्रकृति सदाचार-निरपेक्ष है। आत्मा इसे अनुप्राणित करती है। मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह प्रकृति को परिवर्तित करे, इसकी परकीयता और क्षण-भंगुरता को समाप्त करे, और इससे उस भावना को पूर्णतया प्रकट करवाये, जिसके लिए यह अभिप्रेत है।[१]

यदि हम प्रकृति को परमात्मा से पृथक् समझते हैं, तो इसका अभिप्राय है कि हम माया के संसार में हैं। परन्तु यदि विश्व में परमात्मा अन्तर्व्यापी है, तो कैसे हम इस भौतिक शरीर को गन्दगी मानकर इसका परित्याग कर सकते हैं? परमात्मा का सृजनात्मक प्रेम विश्व की रचना का मूल कारण है; इसलिए यह सुनिश्चित है कि इसमें दिव्य परमात्मा की पूर्णता की झलक दिखाई पड़ेगी। संसार परमात्मा का प्रतिषेध नहीं है, यह तो उसकी जीवित-जाग्रत प्रतिमा है; उसका विरोधी नहीं, इसे तो आत्मा का प्रतीक और उपकरण बनाया ही जाना चाहिए। शरीर को आत्मा का चिह्न और वाणी बनाया जाना चाहिए। "फूल धूल से पैदा होते हैं, किन्तु उसके कारण की अपवित्रता स्वयं फूल में ही समाप्त हो जाती है।"[२] रवीन्द्रनाथ ने इन्द्रियों की अवहेलना करने का विरोध किया है।

नहीं, मैं अपनी इन्द्रियों के दरवाजें कभी भी बन्द नहीं करूंगा। दर्शन, श्रवण और स्पर्श के आनन्द तेरे ही आनन्द का वहन करेंगे।[३]

---

[१] टैनिसन इस विचार के अति निकट पहुंच जाता है, किन्तु उसने मौलिक रूप से मन के प्रति शरीर के सुनिश्चित सम्बन्ध की उपेक्षा की है। ऐसा मालूम पड़ता है कि वह द्रव्य और आत्मा को परस्पर-विरोधी समझता है:

"शरीर और अंग का यह भार,
क्या वे दोनों उससे तेरे विभाजन के चिह्न और प्रतीक नहीं हैं?"

[२] टकर

[३] गीतांजलि, ७३

रवीन्द्रनाथ ने लिखा है,

धूल अपमानित की जाती है किन्तु बदले में वह अपने फूलों की ही भेंट देती है ।[1]

प्रकृति का संसार न तो स्रष्टा का मायाजाल है और न शैतान का फंदा । यह वह लीला-क्षेत्र है, जहां हमें अपनी आत्माओं का निर्माण करना है ।

इसी प्रकार व्यक्तियों और वस्तुओं का संसार कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिससे बचना आवश्यक हो । यह तो सान्त व्यक्ति को उसके उद्देश्य तक पहुंचने योग्य बनाने के लिए है । "संपूर्ण संसार हमें दिया गया है, और हमारी सारी शक्तियों का अन्तिम अभिप्राय यह विश्वास है कि हमें उनकी सहायता से अपनी विरासत पर कब्जा प्राप्त करना है ।[2] प्रकृति और समाज ही केवल ऐसे उपकरण हैं, जिसके द्वारा सान्त सत्ता की अनन्तता प्रकाश में लाई जा सकती है; और वह सामग्री है, जो सान्त सत्ता को इसके उद्देश्य की पूर्ति में सहायता दे सकती है । अखिल विश्व जीवित-जाग्रत आत्मा से अन्त:प्रविष्ट तथा अनुप्राणित है और इसलिए आत्मा की पुकार का प्रत्युत्तर देता है । यदि हम ठीक तरीके से संसार से नाता जोड़ते हैं, तो इसका एक भी कण ऐसा नहीं, जो अत्यधिक मनोरंजक और दिव्य न हो । कोई भी चीज परमात्मा की प्राप्ति का माध्यम, अमरता का प्रवेश-द्वार बन सकती है : "सारे मार्ग तुझे ही प्राप्त कराते हैं !" दृश्य संसार में कुछ भी इतना निकृष्ट नहीं कि वह आत्मा के उपयोग में न आ इसके । इस धुंधले गहन संसार में सर्वत्र श्वेत चमक के लिए खिड़कियां खुली हैं ।

तंग गली के संकुचित अवकाश में महादानी परमात्मा हमारे दर्शन के लिए अखिल विश्व का उद्घाटन कर सकता है ।[3]

हे मेरे प्रभु, तेरी हवेली अनन्त है ![4]

---

[1] स्ट्रे बर्ड्स, १०१, पृष्ठ २६

[2] साधना, पृष्ठ १३७

[3] रेमिनिसेन्सेस, पृष्ठ २२१

[4] गीतांजलि, ८७

पृथ्वी में स्वर्ग को खूब ठूंस-ठूंसकर भरा गया है, सारी सत्ता परमात्मा से आप्लावित है। "क्यों, सारा देश राजा से परिपूर्ण, और ठूंस-ठूंसकर भरा हुआ है।"[1] ग्रीस के एक विचारक के अनुसार, "सोने की जंजीर के द्वारा पृथ्वी स्वर्ग के साथ बंधी हुई है। संसार की छोटी-से-छोटी वस्तु में भी अज्ञात के लिए भविष्यवाणी की शक्ति विद्यमान है। सब-कहीं विश्व एक ऐसा द्वार है, जिसमें से हम अपनी आध्यात्मिक विरासत तक पहुंच सकते हैं। कहीं भी इसपर चोट करो, कहीं भी इसपर कब्जा करो, यह प्रभु की हवेली का मार्ग खोल देती है!" "वह आता है, आता है, सदा आता है प्रतिक्षण और प्रतियुग, प्रतिदिन और प्रति-रात्रि वह आता है, सदा आता है।"[2] परमात्मा की सेना में कभी भी कोई भरती हो सकता है, इसमें कभी भी अत्यधिक विलम्ब नहीं होता। "दिन की समाप्ति पर मैं इस आशंका से शीघ्रता करता हूं कि कहीं द्वार बन्द न हो जायं, किन्तु मुझे मालूम पड़ता है कि तब भी समय शेष है।"[3] यदि हम किसी अवसर को चूक जाते हैं, तो वह सदा के लिए हमारे हाथ से निकल जाता है, वह कभी दुबारा नहीं आता। घटना घट चुकने के बाद पछताने का कोई लाभ नहीं। किसी भी क्षण रात्रि हो सकती है, जिस समय कोई भी आदमी काम नहीं कर सकता। ज्योंही संसार हमारे सम्मुख सुअवसर उपस्थित करता है, हमें उनसे लाभ उठाना चाहिए, क्योंकि वे हमारे आमंत्रण पर उपस्थित नहीं होते। "हमें परमात्मा के स्वागत के लिए सदा ही तैयार रहना चाहिए, क्योंकि इस बात की अधिक सम्भावना है कि जब वह आये तो हम तैयार न हों; और जब हम तैयार हों तो वह न आये।"[4]

प्राकृतिक उपकरण और संसार की घटनाएं आत्मा को उत्पीड़ित करेंगी, यदि हम उनका उपयोग आध्यात्मिक और स्वार्थरहित उद्देश्यों के लिए न करके, अपनी इन्द्रियासक्ति और उपभोग के लिए करेंगे।

---

[1] दि किंग ऑव दि डार्क चैम्बर, पृष्ठ १४

[2] गीतांजलि, ४५

[3] गीतांजलि, ८२

[4] दि गार्डनर, ८, ३६, ५७ और ६६

दीपक क्यों बुझ गया ?

मैंने वायु से इसकी सुरक्षा के लिए इसे अपने चोगे की आड़ दी, इसी कारण दीपक बुझ गया ।

फूल क्यों मुर्झाया ?

मैंने प्रेमातिरेक में उसे अपने सीने से लगाया, इसीलिए फूल मुरझा गया ।

धारा क्यों सूख गई ?

इसे अपने उपयोग में लाने के लिए मैंने इसके आर-पार एक बांध बना दिया, इसीलिए धारा सूख गई ।

वीणा का तार क्यों टूट गया ?

मैंने इससे उस स्वरलहरी को बलपूर्वक उत्पन्न करने का प्रयत्न किया, जो इसकी शक्ति से बाहर थी, इसीलिए वीणा का तार टूट गया ।[1]

"मनुष्य का स्थायी आनन्द किसी वस्तु के ग्रहण में नहीं, वरन् अपनेको उसके प्रति समर्पित करने में है, जो अपनी अपेक्षा अधिक महान् है, तथा अपनेको उन विचारों के प्रति समर्पित करने में है, जो वैयक्तिक आत्मा की अपेक्षा अधिक विशाल हैं—जैसे अपने देश का विचार, मानवता का विचार, परमात्मा का विचार ।"[2] संसार हमें अपने सर्वस्व को न्यौछावर करने के सुअवसर प्रदान करता है । नि:स्वार्थ आदर्शों के प्रति ऐसे सब उत्सर्गों में अथवा उच्च महान् कार्यों के प्रति ऐसे सब समर्पणों में, अनन्त सत्ता का कुछ-न-कुछ स्पर्श होता है । इसीलिए उस समय हम परमात्मा के चरणों का अनुभव कर लेते हैं और अपने-आपको भूल जाते हैं । एक उच्च और उदात्त आदर्श आत्मा को मुक्त कर देता है । यह हमारी स्वार्थपरायणता से हमारी मुक्ति कराता है और हमारे लिए अमरता का द्वार खोल देता है । दैनिक व्यवहार की सामान्य पार्थिव चीजें भी हमें स्वर्ग ले जायंगी, यदि हम अपनेको उनपर पूर्णतया न्यौछावर कर दें । इस प्रकार के कार्यों में धर्म के विशिष्ट

---

[1] दि गार्डनर, ५२

[2] साधना, पृष्ठ १५२

लक्षण विद्यमान होते हैं। "जब कभी हम किसीके प्रति ऐसा तीव्र अनुराग अनुभव करते हैं कि अनन्त आत्मा हमें तुच्छ एवं नगण्य मालूम पड़ने लगती है और वह सत्ता, जिसके प्रति तीव्र अनुराग होता है, वही सर्वस्व मालूम पड़ने लगती है, तथ्य यह है, कि उस समय, हमारी मनोवृत्ति मूलत: धार्मिक होती है।"[१] आदर्श का अलौकिक महत्त्व और उस आदर्श के प्रति आत्मा की पूर्ण दंडवत् प्रणति—ये दोनों बातें एक ही अनुभव के दो पूरक पक्ष हैं। हमें आदर्श को सम्मुख रखकर उसके प्रति यह श्रद्धांजलि प्रस्तुत करनी चाहिए कि "तुम ही मेरे सारे विश्व हो! मैं तुममें खो गया हूं।"[२] अर्जुन ने अनुराग-प्रवण होकर चित्रा के प्रति जो-कुछ कहा है, उसपर विचार कीजिये। "केवल तुम ही पूर्ण हो, तुम ही एक ऐसी नारी हो, जो संसार की सम्पत्ति है, जो निर्धनता की समाप्ति है, जो सब प्रयत्नों का उद्देश्य है। संसार में दूसरी भी नारियां हैं जो केवल शनैः-शनैः जानी जा सकती हैं। पल-भर के लिए भी तुम्हारे दर्शन कर लेना सदा-सर्वदा के लिए सम्पूर्ण पूर्णता को देख लेना है।"[३] चित्रा इस अभिनन्दन का प्रत्युत्तर देती है, "मैंने उसकी 'प्रिय! मेरी प्रियतम!' इस पुकार को सुना और मेरे समस्त विस्मृत जीवन मिलकर एक हो गये और मेरे उन सब जीवनों ने इसका प्रत्युत्तर दिया। मैंने कहा, 'मुझे लो, मेरा सर्वस्व लो!' और मैंने अपनी भुजाएं उसकी ओर फैला दीं . . . स्वर्ग और पृथ्वी, समय और अवकाश, हर्ष और क्लेश, मृत्यु और जीवन सभी एक साथ असह्य आनन्दातिरेक में विलीन हो गये।"[४]

अपने प्रेमी के प्रति नारी के आत्म-समर्पण की अपेक्षा पृथ्वी पर कुछ भी अधिक स्वर्गीय नहीं है। आत्मा की लोकातीतता सभी प्रकार के आध्यात्मिक अनुभवों का चिह्न है। यह उस आवेग में भी पायी जाती है जिसके दर्शन विज्ञान, कला और नैतिकता के अनुरागपूर्ण अनुसरण में होते हैं। मानवीय प्रेम में भी इस प्रकार के क्षण आते हैं। "केवल कुछ

---

[१] बोसांकेट, गिफ्फर्ड लेक्चर्स, दूसरी जिल्द, पृष्ठ २३५

[२] दि गार्डनर, ४६ और ४८

[३] चित्रा, पृष्ठ १८ तथा १९

[४] चित्रा, पृष्ठ २४

मधुर घंटों के लिए ही हम दोनों अमर बना दिये गए हैं।"[1] हम तब परमात्मा की पोशाक की झालर को छूते हैं, यद्यपि हम इसे जानते नहीं। "हे मेरे राजा, सामान्य भीड़ के किसी आदमी की तरह अज्ञात रूप में बिना बुलाये मेरे हृदय में प्रवेश करने पर भी तुम मेरे जीवन के बहुत-से अस्थायी क्षणों पर अनन्तता की मोहर लगा देते हो।"[2] धार्मिक अनुभव 'स्व' की इस पूर्ण उपेक्षा और शरीर, मन तथा आत्मा पर अधिकार करनेवाले परमात्मा के प्रति समर्पण की भावना की अपेक्षा कुछ भी अधिक नहीं है। यह अनुभव हमारे स्वार्थ की समाप्ति और सम्पूर्ण की प्राप्ति का अनुभव है। जिन सान्त आदर्शों का हम निःस्वार्थ होकर अनुसरण करते हैं, उनके बारे में, जल्दी या देर से, हमें यह बात मालूम पड़ जायेगी कि वे आत्मा की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हैं। यद्यपि पूर्ण मानव-प्रेम बहुत-कुछ इस धार्मिक अनुभव-जैसा होता है, फिर भी हमें यह बात शीघ्र ही मालूम हो जाती है कि यह प्रेम हमारी उस अनन्त उत्कट अभिलाषा को सन्तुष्ट नहीं कर सकता, जो हममें ईश्वरीय पूर्णता के लिए विद्यमान है। भले ही मानव-प्रेम से हमें ईश्वरीय पूर्णता का रास्ता मिल जाय, लेकिन यह अन्तिम उद्देश्य कभी नहीं बन सकता। "यदि उनके प्रेम का निरपेक्ष केन्द्र सभी प्राणी हैं, चाहे वे पशु हों या मनुष्य, तो उस प्रेम में कष्ट मिलेगा, और उन्हें रोग, मृत्यु और वियोग का शिकार बनकर निराशाओं से पीड़ित होना पड़ेगा, किन्तु यदि उन्हें अपने वैयक्तिक जीवन के केन्द्र और उसकी पृष्ठभूमि में अनन्त व्यक्तित्व की चेतना अनुभव होगी, तो प्रेम की शक्ति पूरी तरह से सन्तुष्ट हो जायगी और सारे मध्यावकाश पूर्ण हो जायंगे। और उनके हर्ष और क्लेश पूर्णता में मिलकर एकाकार हो जायंगे, जो एक परम आनन्द है।"[3] हम पूर्ण आदर्श के साथ एक होने की लालसा रखते हैं। "उस विनाश के समय और आत्मा की पूर्ण नग्नता के समय हमें सौन्दर्य में मिलकर एक हो जाना चाहिए। कोई सान्त वस्तु हमारी

---

[1] दि गार्डनर, ४४

[2] गीतांजलि, ४३

[3] अमेरिका की महिलाओं के प्रति टैगोर का विदाई-संदेश, 'करण्ट ओपिनिअन', अप्रैल, १९१७

इस उत्कट अभिलाषा को शान्त नहीं कर सकती। "मुझे अपनी व्यर्थ की लालसा के लिए खेद है। मेरे परमात्मा, किसीसे मिलकर एक होने की मेरी यह आशा तेरे सिवाय और किससे पूरी हो सकती है!"[१]

(५)

इससे यह परिणाम निकलता है कि परमात्मा से अधिष्ठित आत्मा अपनेको मनुष्य की सेवा में मिटा देगी। जैसे प्रेमी के लिए अपने प्रेम-पात्र के शरीर में कुछ भी अस्वच्छ या अपवित्र नहीं होता, ठीक वैसे ही परमात्मा के प्रेमी के लिए भी परमात्मा के विशाल शरीरभूत मानव-जगत् में कुछ भी अस्पृश्य नहीं। असंगति तथा विरोध के संसार से ऊबकर विचार में ही मग्न रहनेवाले ब्रह्मज्ञानी को यह प्रलोभन हो सकता है कि वह सामाजिक कार्य से अपना मुंह मोड़ ले, किन्तु उसके लिए सान्त सत्ता ऐसी अभावात्मक सत्ता बनी रहेगी, जो अमूर्त एवं निष्फल है। इस बात का कोई विशेष महत्त्व नहीं है कि हम उसे सत् कहते हैं या असत्; यह तो रुचि और प्रकृति की बात है। किन्तु, जैसा कि कबीर ने कहा है, हमें "रिक्तता में कुछ भी प्राप्त नहीं होता। (नहीं अपनपौ सुन में सुद्ध न पैहो)"[२] किन्तु सर्वोच्च सार्वभौम सत्ता अर्थात् परमात्मा के प्रति भक्ति अर्थशून्य है, यदि विशिष्ट सान्त सत्ता अर्थात् मनुष्य के लिए किये जाने वाले कामों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह एक (परमात्मा) बहुतों से (मनुष्यों से) परे नहीं है, किन्तु बहुतों में विद्यमान है। जो सच्चा ब्रह्मज्ञानी अपने प्रत्यक्ष अनुभव से विश्व की केन्द्रभूत संगति का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसके लिए "वर्तमान से परे कोई रहस्य नहीं, असम्भव के लिए कोई प्रयत्न नहीं, मनोहरता के पीछे कोई छाया नहीं, घने अन्धकार में टटोलने का काम नहीं।"[३] "अनन्त सान्त से भिन्न नहीं, अपितु परिवर्तित रूप में सान्त ही है।"[४] अनन्त जीवन से अभिप्राय समयातीत

---

[१] दि गार्डनर, ५०

[२] कबीरवाणी, २०

[३] दि गार्डनर, १६

[४] गीतांजलि, ७८

जीवन से नहीं है, किन्तु यहीं और अभी, आत्मा में सभी चीजों की और सब चीजों में आत्मा की प्रत्यभिज्ञा के जीवन से है। धार्मिक आत्मा विश्व में निवास करती है और इसे परमात्मा के आवास के अधिक उपयुक्त बनाने में सहायता देती है। यह कहा गया है कि "जितना-कुछ तुमने मेरे भाइयों में से सर्वाधिक नगण्य के लिए किया है, उतना तुमने मेरे लिए ही किया है। "जो यह सोचते हैं कि भले ही वे मनुष्य की सेवा और कल्याण से उदासीन और उसके विरोधी क्यों न रहें, परमात्मा की पूजा उन्हें अपने उद्देश्य तक पहुंचने में सहायता करेगी, वे मुक्ति के यथार्थ रहस्य को नहीं जानते हैं। परमात्मा राजा के मन्दिर में भी नहीं रहता है, यद्यपि उस अद्भुत कलाकृति के निर्माण में दो करोड़ का सोना लगा था, और वह अत्यधिक व्ययवाली विधियों से प्रतिष्ठित किया गया था; क्योंकि उस मन्दिर का निर्माण उस वर्ष हुआ था, जब सहायता की प्रार्थना करते हुए हजारों ऐसे मनुष्य व्यर्थ ही उसके द्वार पर खड़े थे, जिनके घर जला दिये गए थे।"[1]

ईश्वर के अन्तर्व्यापित्व के विचार के लिए सबसे पहले व्यक्तिगत पवित्रता की—शरीर, मन, हृदय तथा संकल्प-शक्ति की पवित्रता की—आवश्यकता है। योग, ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के मार्ग आत्मा के विकास और अनुशासन के लिए अपनाये जाने चाहिए।[2]

मेरे प्राणों के प्राण,

यह जानते हुए कि मेरे सारे अंगों से तुम्हारा सजीव सम्पर्क है, मैं अपने शरीर को हमेशा पवित्र रखने का प्रयत्न करूंगा।

यह जानकर कि तुम वह सत्य हो, जिसने मेरे मन में विवेक की यह ज्योति जगाई है, मैं अपने विचारों से सदा सब असत्यों को पृथक् रखने का प्रयत्न करूंगा।

यह जानकर कि मेरे हृदय के अन्तरतम मन्दिर में तुम्हारा वास है, मैं अपने हृदय को सब बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करूंगा और अपने प्रेम को निर्मल रखूंगा।

---

[1] फ्रूट गैदरिंग, २४

[2] भगवद्गीता, १७/१४-१६

और यह जानकर कि तुम्हारी शक्ति मुझे कार्य करने की शक्ति प्रदान करती है, मेरा यह प्रयत्न होगा कि मैं अपने कार्यों में तुम्हें अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करूं।

ईश्वर के अन्तर्व्यापित्व की चेतना से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि सामाजिक न्याय आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य के बारे में हमारी यह धारणा होनी चाहिए कि वह अपने-आपमें एक उद्देश्य है, साधन नहीं। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने दरिद्र बस्तियों के जीवन, कठोर परिश्रम, वेश्यावृत्ति और राजनैतिक शोषण की आधुनिक समस्याओं का विशेष हवाला देते हुए उपनिषदों, बाइबिल, भगवद्गीता तथा कांट के सुपरिचित प्रसंगों पर टिप्पणी की है। "जिन देशों में नरभक्षण प्रचलित है, वहां मनुष्य मनुष्य को अपना भोजन समझता है। ऐसे देश में सभ्यता कभी नहीं पनप सकती, क्योंकि वहांपर मनुष्य अपनी उच्च मान्यताओं को खो बैठता है। और निचश्य ही उसे सामान्य प्राणी बना दिया जाता है .... हमारी इच्छाएं मनुष्य में विद्यमान सत्य के सम्बन्ध में हमें अन्धा बना देती हैं और यह अपनी आत्मा के प्रति अपने द्वारा की हुई सबसे बड़ी गलती है। यह हमारी अन्तरात्मा को निष्प्राण कर देती है और यह आध्यात्मिक आत्महत्या का क्रमिक उपाय है। इससे सभ्यता के शरीर में घृणाजनक घाव पैदा हो जाते हैं, इसने गंदी झोंपड़ियों और चकलों को अपने से सम्बन्ध रखनेवाली प्रतिहिंसात्मक दण्ड-संहिताओं को, तथा अपनी क्रूर कारावास-पद्धतियों को ही जन्म नहीं दिया है, अपितु स्वराज्य के अनुशासन और आत्म-सुरक्षा के उपायों से विदेशी जातियों को वंचित करके उन्हें स्थायी रूप से हानि पहुंचानेवाली शोषण की व्यवस्थित पद्धतियों को भी जन्म दिया है।"[2] इस उद्धरण से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि रवीन्द्रनाथ के हृदय में अत्याचार तथा सामाजिक अन्याय के लिए कितनी घृणा थी और सामाजिक कल्याण के लिए कितनी उत्कट अभिलाषा थी।

---

[1] गीतांजलि, ४

[2] साधना, पृ० १०८-१०९

धार्मिक आत्मा का सच्चा महान् कार्य या उद्देश्य एकान्तवास या सर्बस्व-त्याग नहीं है; उसका महान् उद्देश्य यह है कि वह इस बात को पहचाने कि मनुष्य में कार्य करने का असीम तथा अनन्त सामर्थ्य है और वह समाज का सदस्य बने और अपने साथी मनुष्यों की सेवा के लिए अपनेको पूर्ण रूप से समर्पित कर दे। भगवद्गीता में लिखा है, "जो कोई देवताओं के द्वारा प्रदान की हुई उत्तम वस्तुओं को उन्हें भेंट किये बिना उनका उपभोग करता है, वह निश्चय ही चोर है।"[१] विश्व के प्रति अपनेपन या एकता के अनुभव की वजह से ब्रह्मज्ञानी पृथ्वी के सुधार और मानवता को सुखी बनाने के लिए कार्य करने लगता है। क्योंकि ऐसे ब्रह्मज्ञानी की आंखों के सामने पूर्ण बने हुए मनुष्य का दृश्य हमेशा बना रहता है, इसलिए उसका प्रेम भूखे और प्यासे, बीमार और दुबले, अपरिचित और नंगे, प्रत्येक प्राणी के लिए प्रकट होता है। वह अनुभव करने लगता है कि परमात्मा उन सभीमें तो निवास करता है; दरिद्रों की बस्ती में उत्पन्न शिशु भी तो परमात्मा की ही रचना है। "यहां तो तेरा पादपीठ है, और वहां तेरे पैर टिके हैं, जहां अधिक-से-अधिक दीन, हीन तथा क्षीण मनुष्य वास करते हैं।"[२]

(६)

मुक्त आत्मा इस संसार से बचकर दूर नहीं भागना चाहती, वरन् इसे सुधारने का प्रयत्न करती है। परन्तु वह यह सारा कार्य इसलिए करती है, क्योंकि ऐसा करने में उसे आन्तरिक शान्ति तथा विश्रान्ति अनुभव होती है। मुक्त आत्मा का यह कार्य उसी प्रकार का है, जिस प्रकार के कार्य के करने से दिव्य सत्ता को सान्त सत्ता की अपेक्षा विशिष्टता प्राप्त होती है। अभिप्राय यह है कि परमात्मा का कार्य जैसे परम आनन्द है, उसी तरह मुक्तात्मा का सुधार-कार्य भी परम आनन्द ही है। "आनन्द से सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है, आनन्द से ही वे जीवित रहते हैं, आनन्द की ओर ही उनकी गति होती है और

[१] भगवद्गीता, ३/१२

[२] गीतांजलि, १०

आनन्द में ही वे लीन हो जाते हैं।" किन्तु यह आनन्द अपनेको ऐसी व्यवस्थाओं में—ऐसे नियमों में—अभिव्यक्त करने लगता है, जो (व्यवस्थाएं) इस आनन्द को बन्धन में डालने वाली शृंखलाएं प्रतीत होती थीं; जबकि सचाई यह है कि व्यवस्थाएं प्रेम या स्वातन्त्र्य की ही अभिव्यक्ति होती हैं। "उसीके भय से अग्नि प्रज्वलित होती है, उसी के भय से सूर्य चमकता है, उसीके भय से वायु, मेघ तथा मृत्यु अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं।"[1] निरपेक्ष ब्रह्म में व्यवस्था और प्रेम एक ही होते हैं, एक-दूसरे के विरोधी नहीं। यही बात मुक्त आत्मा के सम्बन्ध में भी सत्य है। उसके द्वारा की गई पूर्ण सेवा उसका पूर्ण स्वातन्त्र्य ही है। जिसका आनन्द ब्रह्म में केन्द्रित है, वह निष्क्रिय रहकर कैसे जीवित रह सकता है? "हमारे प्रभु ने भी स्वयं अपने-आप को सृष्टि के बन्धनों में आनन्दपूर्वक बांधा है। वह सदा के लिए हमसे बंधा हुआ है।"[2] उपनिषदों के अनुसार वह ब्रह्म ज्ञान, शक्ति और कर्म है, किन्तु उसका कर्म उसके आनन्द की अभिव्यक्ति है। जिस तरह अपने आनन्द से भरपूर होने के कारण गायक गाता है, उसी तरह आनन्द से भरपूर दिव्य गायक विश्व को उत्पन्न करता है। ईशोपनिषद् में लिखा है—"कर्म करता हुआ ही तू सौ वर्षों तक जीने की इच्छा कर!" मुक्तात्मा द्वारा प्राप्त की हुई परमानन्द की स्थिति अकर्मण्य विश्राम की स्थति कमला-सुरभित भूमि नहीं है, क्योंकि परमात्मा की पूजा और मनुष्य की सेवा दोनों एकरूप हैं। गीतांजलि (५२) में प्रेमी के प्रश्नोत्तर में इस विद्या को इस प्रकार प्रकट किया है, "तेरे प्रेम की क्या निशानी शेष है? तेरे प्रेम का प्रतीक क्या है? यह न तो फूल है, न सुवासित करनेवाले द्रव्य, न सुगन्धित जल से पूर्ण पुष्पपात्र, वरन् यह है ज्वाला की तरह दमकती और वज्रपात की तरह भीषण तेरी मजबूत तलवार।" इस प्रकार का ज्ञान होने पर प्रेमी संकल्प करता है— "आज से मैं सारे तुच्छ अलंकारों को छोड़ता हूं। मेरे हृदय के स्वामी, अब मैं निभृत में बैठकर प्रतीक्षा नहीं किया करूंगा और रोया नहीं करूंगा,

---

[1] तैत्तिरीय उपनिषद्, देखिये बृहदारण्यक उपनिषद् ३।९ भी

[2] गीतांजलि, ११

और न मुझमें, प्रेम के बर्ताव में लज्जा की लाली होगी, न मिठास। साज-श्रृंगार के लिए तूने मुझे अपनी तलवार दी है। मुझे गुड़िया के अलंकरणों की भी अब आवश्यकता नहीं रही।"[1] ब्रह्म को दृढ़ता से पकड़कर ही मुक्त आत्मा संसार में अपने विरोधी—अनिष्ट—का मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ती है।

परन्तु यह क्रियाशीलता किसी निजी स्वार्थ के लिए नहीं होगी। इस बात में इसकी बच्चों के कार्यों से समता है। बच्चे काम करने में आनन्द अनुभव करते हैं, क्योंकि काम करना उनके लिए काम करना नहीं, वरन् अतिरिक्त शक्तियों की अभिव्यक्तिमात्र है, उनकी अतिरिक्त शक्तियों को खेल द्वारा भी बहिर्मुखी होने का मौका मिलता है। काम करने का उनका संकल्प स्वार्थ या उपयोगितावाद से प्रेरित नहीं होता। "उसने धूल से घृणा करना और सोने के पीछे मारे-मारे फिरना नहीं सीखा।"[2] "मोती निकालनेवाले मोतियों के लिए गोता लगाते हैं, व्यापारी व्यापार-हेतु अपने जहाजों में यात्रा करते हैं, जबकि बच्चे कंकड़ों-पत्थरों को इकट्ठे करते और उन्हें फिर से बिखेर दिया करते हैं। वे छिपे खजानों को पाने का प्रयत्न नहीं करते, न ही उन्हें यह मालूम है कि जाल कैसे बिछाया जाता है।" संसार की कठिनाइयां उन्हें प्रभावित नहीं करतीं। "तूफान पथशून्य आकाश में भटकता है, पथविहीन जल में जहाज नष्ट हो जाते हैं, मृत्यु का नर्तन होता है, पर बच्चे खेलते हैं।"[3] ब्रह्माधिष्ठित आत्माओंवाले मनुष्य, बच्चों की तरह भोले-भाले होते हैं, और जीवन के आनन्द-मात्र के लिए ही कार्य करते हैं।" अनन्त संसारों के सागर-तट पर बच्चों का यह महान् सम्मिलन है।"[4]

वेदान्त दर्शन और इसके अर्वाचीनतम व्याख्याता रवीन्द्रनाथ का सिद्धान्त वह निश्चयात्मक आदर्शवाद है जो सांसारिकता तथा सान्त सत्ता से भागने का प्रयत्न तो नहीं करता, परन्तु अपने में अनन्त सत्ता का अधिग्रहण किये रहता है। उन्होंने हमें व्यावहारिक ब्रह्मवाद

[1] गीतांजलि, ५२
[2] क्रेसेण्ट मून
[3] गीतांजलि, ६०
[4] गीतांजलि, ६३

प्रदान किया है, जो न केवल हमें व्यावहारिक संसार में रहने और काम करने देता है, अपितु कार्य को पवित्रता का और जीवन को परमात्मा के प्रति समर्पण का रूप प्रदान करता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि व्यावहारिक संसार के कार्य में ही हमारी सारी शक्ति न खप जाय, जिससे कि सार्वभौम सत्ता का दृश्य ही हमारी आंखों से ओझल हो जाय। सर्वव्यापी परमात्मा के विचार के सर्वथा वशीभूत रहते हुए ही हमें संसार में कार्य करना चाहिए। "हे परमात्मन्, मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार करो कि मैं बहुतों के खेल में एक के स्पर्श के परम आनन्द को कभी भुला न बैठूं।"[१]

(७)

मनुष्य का उद्देश्य अपने अन्दर विद्यमान आत्मा या अनन्त सत्ता की अनुभूति है। यह मनुष्य का धर्म है। धर्म का शाब्दिक अर्थ स्वभाव, वास्तविकता या सार है। मनुष्य का सार अनन्त सत्ता है। उसका धर्म अनन्त बनना है, वास्तव में वह प्रच्छन्न रूप में अनन्त ही है। व्यक्तिगत सत्ता का उद्देश्य सार्वभौम सत्ता का रूप ग्रहण करना है।

स्वयं को आत्मा और प्रकृति की सीमाओं से मुक्त करने और परमात्मा के राज्य में स्थान ग्रहण करने के लिए जान-बूझकर किया हुआ प्रयत्न, मनुष्य की वह विशेषता है जो उसे सृष्टि के दूसरे प्राणियों से भिन्नता प्रदान करती है। "मनुष्य में, प्राणी के जीवन ने एक अगला मोड़ लिया है; वह उस संसार के प्रारम्भ में आया है जो कि उसकी अपनी संकल्प-शक्ति और शक्ति से बनाया जाना है।"[२] मनुष्य व्यक्ति है। अनन्त विकास की स्वतन्त्रता से उसके सभी कार्यों को विशिष्टता प्राप्त होनी चाहिए। यदि वह सर्जनात्मक स्वतन्त्रता के संसार में अपने हिस्से के कार्य को करने में असफल रहता है तो वह अपने अन्दर विद्यमान अनन्त सत्ता के प्रति पाप करता है। उसकी मुक्ति 'अपनेपन' की संकुचित सीमाओं से अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र करने में है। यह मुक्ति अनन्त सत्ता की अनुभूति है, जो सान्त सत्ता के समर्पण से ही

---

[१] गीतांजलि, ६३

[२] पर्सनेलिटी, पृष्ठ ८८

प्राप्त की जाती है। मनुष्य को अपने प्रिय सान्त हितों के छोड़ने में पीड़ा और कष्ट होता है। कठोपनिषद् में लिखा है, "साधना—ईश्वर की प्राप्ति, का मार्ग उस्तरे की तेज धार के समान है।[1] "मनुष्य में अनन्त सत्ता उसी तरह विद्यमान है, जिस तरह तिलों में तेल, दही में मक्खन, नदी में जल या काष्ठ के दो खण्डों में अग्नि छिपी होती है।"[2] तिलों से तेल निकालने के लिए हमें उन्हें दबाना पड़ता है, मक्खन प्राप्त करने से पहले दही को मथना पड़ता है, जल के लिए भूमि को खोदना पड़ता है और अग्नि के लिए काष्ठ-खंडों को रगड़ना पड़ता है। यही पीड़ा या कष्ट है। जबतक अनन्त सत्ता-रूपी उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती, तब-तक हमें कष्टों और संकटों को सहना पड़ता है। हमें सान्त सत्ता के विरुद्ध युद्ध करने होते हैं, किन्तु वे युद्ध भौतिक नहीं, आध्यात्मिक होते हैं। प्रत्येक क्षण हम अपनी सान्तता से उच्चता प्राप्त करते रहते हैं। यह सान्त या निम्न का स्वभाव है कि वह उच्च के उत्थान से पूर्व ही अदृश्य हो जाता है। जो माता अपने आकर्षण, शान तथा सौन्दर्य को बहुत अधिक मूल्यवान् समझती है, उसे अपने पहलौटे बेटे को देखने के उच्च आनन्द के लिए उन सबका बलिदान करना पड़ता है। यह आनन्द घोर कष्ट के बाद मिलता है, जिसमें उसे अपने आकर्षण को तो गंवाना ही पड़ता है, जीवन को भी खतरे में डालना पड़ता है। इस बात को रवींद्र-नाथ ने इस कल्पना के द्वारा स्पष्ट किया है—"पुष्प से फल अवश्य पैदा होना चाहिए।" किन्तु जब पुष्प के फल धारण करने का समय आता है····वह अपनी सुन्दर पंखुड़ियों को गिरा देता है और क्रूर मितव्ययिता उसे अपनी मधुर गंध छोड़ने के लिए भी विवश करती है।"[3] पुष्प के रूप में विकसित होने के लिए कली को, फल के लिए पुष्प को, बीज के लिए फल को और पौधे के लिए बीज को अपना बलिदान करना पड़ता है। जीवन अनन्त जन्म तथा अनन्त मृत्यु की प्रक्रिया है। जन्म मृत्यु है और मृत्यु जन्म है। सारी उन्नति बलिदानस्वरूप है। जिस सान्त आत्मा को

---

[1] कठोपनिषद्, ३।१४

[2] श्वेताश्वतर उपनिषद् १/१५

[3] साधना, पृष्ठ ९९

अनन्त आत्मा में रूपान्तरित होना होता है, जो इसकी भवितव्यता है, उसे यह रूपान्तरण आसानी से नहीं प्राप्त हो जाता। इसकी अनन्त आत्मा के रूप में अभिव्यक्ति के लिए हमें कठोर साधना करनी पड़ती है। जबतक मनुष्य सान्त है, तबतक उसके अन्दर विद्यमान अनन्त सत्ता सान्त में से फूट पड़ने का प्रयत्न करती रहती है। आत्मा शारीरिक बन्धनों के विरुद्ध खीभती रहती है। जो अनन्त सत्ता मनुष्य में पहले से ही विद्यमान है, उसे वास्तविकता का रूप प्रदान करने के लिए मनुष्य के अन्दर-ही-अन्दर सदा प्रयत्न होता रहता है। जो विघ्न-बाधाएं आत्मा की मुक्त तथा निर्विघ्न अभिव्यक्ति में बाधक बनती हैं, उनसे छुटकारा पाने के लिए शक्ति के प्रयोग का अभिप्राय है युद्ध और संघर्ष। सान्त के द्वारा खड़ी की हुई सारी बाधाओं को नष्ट करने के लिए अनन्त सत्ता के उठ खड़े होने के घोर प्रयत्न का अभिप्राय है तनाव और कष्ट। इसलिए जबतक अनन्त सत्ता की प्राप्ति नहीं होती, तबतक सान्त व्यक्ति का जीवन घोर प्रयत्न तथा अथक परिश्रम का जीवन है, जिसमें साहसिकता और खतरा है, तनाव और मुठभेड़ है। "मेरे स्वामी, जिस समय तारों के स्वर मिलाये जा रहे थे, उस समय पीड़ा अति तीव्र थी।"[1] कष्ट से पीड़ित होना हमारी सान्तता का लक्षण है। यह मनुष्य का अधिकार है। "अपूर्ण सत्ताओं के रूप में यह हमारी वास्तविक विभूति है।····यह वह रोकड़ है, जिसे हमें इस जीवन में किसी भी अमूल्य पदार्थ की प्राप्ति के लिए अवश्य ही चुकाना पड़ता है, चाहे वह शक्ति हो, या बुद्धिमत्ता हो या प्रेम। पीड़ा पूर्णता अर्थात् आनन्द की अनन्त अभिव्यक्ति की अनन्त सम्भावना की प्रतीक है।"[2] इसलिए संघर्ष संसार में सर्वोच्च वरदान है। मनुष्य इसके लिए पैदा हुआ है, क्योंकि इसके द्वारा ही वह अपने उद्देश्य को प्राप्त करता है।

रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में, अपूर्णता उच्च पद-प्रतिष्ठा से नीचे गिरने का चिह्न नहीं है, बल्कि इस प्रतिष्ठा की ओर उन्नति की एक शर्त है। यह सन्तोष का विषय है कि संसार अपूर्ण है।

[1] फ्रूट गैदरिंग, ४९ और पर्सनेलिटी, पृष्ठ १०३

[2] साधना, पृष्ठ ६४-६५

कोई भी सदा नहीं जीता, हे भाई, और कुछ भी देर तक नहीं टिकता।

इस बात को मन में रक्खो और प्रसन्न रहो !

सुन्दरता हमारे लिए मधुर है, क्योंकि वह भी हमारे जीवन के साथ उसी अस्थायी ताल और लय के साथ नाचती है।

ज्ञान हमारे लिए बहुमूल्य है, क्योंकि हमें कभी भी इसे पूर्ण करने का अवसर नहीं मिलेगा।"[१]

किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि निरपेक्ष सत्ता अपूर्ण है, क्योंकि रवीन्द्रनाथ कहते हैं : "अनन्त स्वर्ग में सभी कुछ किया गया और वहीं उसकी परिसमाप्ति हुई।"[२] जैसे सूर्य में धब्बे हैं और पर्वत में गहरी खाइयां हैं, इसी प्रकार निरपेक्ष सत्ता में अपूर्णता निहित है, किन्तु सम्पूर्ण सत्ता पूर्ण तथा उदात्त है। विश्व में अपूर्णता आवश्यक वस्तु है। यह ऐसी ही वास्तविक है जैसीकि स्वयं यह उत्पन्न सृष्टि। अपूर्णता से रहित विश्व स्थिर और अप्रगतिशील शून्य है। किन्तु अपूर्णता अन्तिम वस्तु नहीं है। यह अपने-आपमें उद्देश्य नहीं है। यह पूर्ण में अभिभूत होने के लिए विद्यमान है। जिस तरह अस्वाभाविक सत्ता अपूर्ण सत्ता है, उसी प्रकार अपूर्ण आंशिक है।" अपूर्णता पूर्णता का निषेध नहीं, सान्तता अनन्तता की विरोधी नहीं; वे पूर्णताएं ही हैं जो खण्डों में प्रकट हुई हैं, अनन्तता ही हैं जो सीमाओं में प्रकट हुई हैं।"[३] "यदि अपूर्णता संसार में अन्तिम वस्तु होती तो पृथ्वी मनुष्यों के रहने के लिए कोई स्थान न होती। आत्मा की मृत्यु या विनाश के स्थूल अर्थ में निर्वाण, मनुष्य का लक्ष्य होगा।"[४]

अपूर्णता अन्तिम चीज है, इस मिथ्या विश्वास का कारण यह है कि हमें इस बात की पर्याप्त समझ नहीं कि संसार में बुराई और अपूर्णता का क्या स्थान है। यदि हम तथ्यों को, सम्पूर्ण में उनकी स्थिति से पृथक् करेंगे, तो वे विषम तथा बुद्धि से अग्राह्य मालूम पड़ेंगे। "यदि हम केवल

[१] दि गार्डनर, ६८, ७३

[२] दि गार्डनर, ६८

[३] साधना, पृष्ठ ४८

[४] साधना, पृष्ठ ७१

मृत्यु के एक तथ्य को ही सम्पूर्ण सत्ता से अलग करते हैं, तो हमें इसकी निस्सारता दिखाई पड़ती है और हम भयभीत हो जाते हैं। जीवन की वह सम्पूर्णता, मृत्यु जिसका एक भाग है, हमारी आंखों से ओझल हो जाती है।" अपने-आपमें 'क्रॉस' के पूर्ण बलिदान का अभिप्राय था मृत्यु और अत्याचार, किन्तु इसमें, मृत्यु पर आत्मा की विजय, यह आध्यात्मिक तथ्य निहित था, जो अंधकार में चमकता था और जिसने इसको अभिभूत कर लिया था। भौतिक घटना हमें परमात्मा के लिए अन्तिम भेंट के रूप में शरीर के बलिदान के योग्य बनाती है। यह पृथ्वी पर अन्तिम उपहार है जिसे हम सम्पूर्ण के प्रति समर्पित कर सकते हैं। मृत्यु में सान्त आत्मा की सत्ता ही निराकृत हो जाती है। इस प्रकार यदि हम मृत्यु को उसकी पूर्ण स्थिति में देखें तो वह अपनी भयंकरता को खो देती है और कब्र अपनी विजय को। अपने स्वाभाविक रूप में मृत्यु परमात्मा की संदेशवाहक बन जाती है।[1] वर्तमान युद्ध में दृष्टि-गोचर तथ्य किसीको भी मानवता से निराश कर सकते हैं। मानव के, जो परमात्मा की मूर्ति है, युद्ध ने टुकड़े कर दिये हैं। किन्तु यदि हम युद्ध के बाह्य रूप द्वारा भ्रम में न पड़ें और इस युद्ध के बारे में उद्वेग-शून्य और सन्तुलित दृष्टिकोण अपनायें, तो हमें इस युद्ध में केवल मृत्यु और रोग की तीव्र पीड़ा ही दिखाई नहीं पड़ेगी, अपितु वह नयी अन्तर्राष्ट्रीयता भी जन्म लेती दिखाई पड़ेगी, जो आत्म-बलिदान और निःस्वार्थता पर आधारित है। अभी तक सभ्यता नर-संहार को अपना मूल आधार बनाती रही है। "जब कभी कोई प्राचीन सभ्यता नाशोन्मुख हुई और नष्ट हुई तो केवल इन्हीं कारणों से, कि मनुष्यों के हृदय कठोर हो गए और मनुष्य का मूल्य कम हो गया, या राज्य या किसी शक्तिशाली मनुष्य-समुदाय ने लोगों को अपनी शक्ति का साधन-मात्र समझना शुरू कर दिया, या निर्बल जातियों को दास बनाकर और हर प्रकार से उन्हें दबाये रखने का प्रयत्न करके अपनी महानता की नींव को ही हिला दिया; अर्थात् उसने स्वतन्त्रता तथा न्याय्य व्यवहार के अपने प्रेम को तिलांजलि

---

[1] गीतांजलि, ८६

दे दी। सभ्यता किसी भी प्रकार के नर-संहार पर अपनेको जीवित नहीं रख सकती; क्योंकि जिस सभ्यता के कारण मनुष्य सच्चा मनुष्य बना रहता है, उसका संवर्धन प्रेम और न्याय से ही हो सकता है।"[१] हमें विश्वास है कि इस युद्ध के परिणामस्वरूप आज का दर्शन, जिसने मनुष्य को मशीन बना दिया है और जो यंत्र-विज्ञान के शब्दों में सभ्यता की व्याख्या करता है, लुप्त हो जायगा और उसका स्थान आत्मा का दर्शन ले लेगा। इस दर्शन के अनुसार सभ्यता प्रेम और न्याय पर आधारित होगी। हमें विश्वास है कि मानव-प्रकृति की पवित्रता और आत्मविकास के सुअवसरों के प्रति उसके अधिकार को केवल यूरोप में ही नहीं, वरन् सारे संसार में मान लिया जायगा। हम इस बात में विश्वास करने के लिए तैयार नहीं कि यूरोप के जनसंहार और पागलपन का उद्देश्य केवल जनसंहार और पागलपन ही था। रवीन्द्रनाथ के दर्शन के अनुसार युद्ध यह बतलाता है कि वर्तमान सभ्यता का स्वरूप यांत्रिक और अस्थायी है और इसका उद्देश्य उस सभ्यता का मार्ग तैयार करना है जो कम-अधिक आध्यात्मिक हो।

संसार में दुःख का क्या स्थान है? रवीन्द्रनाथ का कहना है कि जब कभी किसी व्यक्ति की इच्छा की पूर्ति नहीं होती तो उस समय उसे पीड़ा होती है। परन्तु वह कभी इस बात को जानने की परवाह नहीं करता कि उसकी इच्छाएं उसकी यथार्थ आवश्यकताओं को प्रकट करती हैं या उसकी स्वार्थमय स्वभाव-जन्य आवश्यकताओं को। वास्तव में परमात्मा उसकी ऊपरी आत्मा की बहुत-सी इच्छाओं को पूरा न करके उसकी सहायता करता है: "समय-समय पर मेरी इच्छाओं को पूरा न करके और मुझे मेरी निर्बल तथा अनिश्चित इच्छाओं के संकटों से बचाकर तुम दिन-प्रतिदिन मुझे पूर्णरूप से अपने ग्रहण के योग्य बना रहे हो।"[२] रवीन्द्रनाथ के साहित्य में हमें ऐसे भी प्रसंग मिलते हैं, जहां उन्होंने यह बताया है कि संसार के कष्ट तथा दुर्भाग्य ऐसे सुअवसर हैं, जिन्हें परमात्मा ने मनुष्य के वास्तविक उद्देश्य के प्रति उसके ध्यान को आकर्षित करने के लिए उसे प्रदान किये हैं।

---

[१] साधना, पृष्ठ १११-११२

[२] गीतांजलि, १४; फ्रूट गैदरिंग, ८५

दुर्भाग्य ने तेरे दरवाजे को खटखटाया है, और उसने तुझे यह संदेश दिया है कि तेरा स्वामी सजग है और वह रात्रि के अन्धकार में से तुझे प्रेम-मिलन के लिए पुकार रहा है।[1]

हे पवित्र परमात्मन्, हे सजग प्रभो, आप अपने प्रकाश और गर्जन के साथ उस समय आयें जब इच्छा भ्रान्ति और मलिनता से मन को अन्धा बना देती है ![2]

हे परमात्मन्, मेरा शुष्क हृदय दिनों और बहुत दिनों से वर्षा से वंचित रक्खा गया है। क्षितिज भयावह रूप में नग्न है—न मृदुल वारिद का सूक्ष्मतम आवरण है, न दूरस्थ शीतल बौछार का धुंधला-सा भी संकेत है।

यदि आपकी यही इच्छा है तो आप मृत्यु की कालिमा से आवृत भयंकर तूफान को भेजिये और विद्युत के कशाघात से आकाश को इस छोर से उस छोर तक चौंका दीजिये ![3]

प्रेम के कारण ही परमात्मा कष्ट भेजता है। परमात्मा मनुष्य से कहता है : "मैं तुम्हें आराम पहुंचाता हूं, इसीलिए चोट मारता हूं; प्यार करता हूं, इसीलिए दण्ड देता हूं।"[4] 'दि किंग ऑव दि डार्क चैम्बर' में सुदर्शना यह अनुभव करती है कि उसके पाप के कारण परमात्मा से उसके ऐक्य की सम्भावना ही विचार की वस्तु नहीं रही है। परन्तु उसका स्वामी कहता है : "समय आने पर यह सम्भव हो जायगा .... जिस आनन्द-रहित गहरी कालिमा ने आज डर से तुम्हारी आत्मा को हिला दिया है, वह एक दिन तुम्हारे लिए सान्त्वना और मुक्ति होगी। मेरे प्रेम का और मतलब ही क्या हो सकता है?"[5] इसकी इससे तुलना कीजिये, "प्रभु जिसे प्यार करता है, उसे वह पवित्र भी करता है।" वह हमें "बेंत मारता है, जिससे पाप धुल जाता है।" कष्ट और संकट आत्मा को पवित्र करते हैं। धातु उस समय सबसे अधिक

---

[1] गीतांजलि, २७

[2] गीतांजलि, ३६

[3] गीतांजलि, ४०

[4] स्ट्रे बर्ड्स, ६३

[5] दि किंग ऑफ दि डार्क चैम्बर, पृष्ठ १११

चमकीली होती है जब वह भट्टी में से गुजर चुकती है। उदाहरणार्थ, यदि प्रेम पूर्ण रूप से एकरस बना रहता है, तो वह आनन्द-ही-आनन्द होता है, उसमें गम्भीरता नहीं होती। "प्रेम को अवश्य ही अपनी क्रीड़ा से खींचकर बुलाया जाना चाहिए जिससे कि वह शोक का प्याला पिये और उसे आंसुओं के स्वर्ग में ले जाया जाय।"[१] प्रेम में यदि पीड़ा की चोट नहीं होगी तो वह 'मृत्यु की सर्द उदासीनता' होगी।[२] अमेरिका के 'ईवनिंग विस्कन्सिन' नामक समाचारपत्र के प्रतिनिधि से रवीन्द्रनाथ ने कहा था: "केवल कष्ट और पीड़ा द्वारा ही तुम अपने कुचल डालने-वाले बोझ से मुक्त होओगे। मुझे नहीं मालूम है यह कष्ट तुम्हारे ऊपर किस रूप में आयेगा, किन्तु रास्ता केवल यही है। केवल भारी कष्ट और भयंकर मान-मर्दन से ही तुम्हें सम्पूर्ण बनाया जायगा।"[३] पीड़ा केवल दण्ड ही नहीं है, बल्कि यह मनुष्य द्वारा परमात्मा के नियमों के पालन न किये जाने का चिह्न भी है। सम्पूर्ण विश्व को परमात्मा का अन्तर्व्यापी विवेक आदेश दिया करता है। भवितव्यता कोई अन्धी शक्ति नहीं, वरन् दूरदर्शिता है। निःसन्देह परमात्मा दया का प्रेमपूर्ण भगवान् है, किन्तु वह न्याय का देवता भी है। उसका प्रेम कानूनों के माध्यम से अपने-आपको अभिव्यक्त करता है। क्योंकि वह अपने प्रार्थी के लिए अपने नियमों का उल्लंघन नहीं करता है, इसलिए वह कठोर और निर्दय प्रतीत होता है।"[४] कोई भी कभी उसे प्रभावित करने में समर्थ नहीं हुआ है।"[५] सुदर्शना उसी सुर में कहती है, "क्या वह हमेशा ही चट्टान की तरह कठोर और निर्दय रहेगा ····क्या मेरे आंसू और मेरी प्रार्थनाएं उसे कभी प्रभावित नहीं कर सकेंगी!"[६]

---

१ दि गार्डनर, ६८

२ फ्रूट गैदरिंग, ३८

३ 'मॉडर्न रिव्यू' १९१७, पृष्ठ ३७२

४ तुलना कीजिये, "उसे तू अपने पापों को बता, जो निर्दय होने पर भी अधिक-से-अधिक न्यायकारी है। और जो न्यायकारी होने पर भी अधिक-से-अधिक दयालु है।" (आस्कर वाइल्ड, फ्लोरेंटाइन ट्रैजेडी)

५ दि किंग ऑफ़ दि डार्क चैम्बर, पृष्ठ १२९

६ दि किंग ऑफ़ दि डार्क चैम्बर, पृष्ठ १२९

(८)

पाप स्वार्थ है। अपनी वास्तविक आत्मा के प्रति सच्चे बने रहना मनुष्य की असफलता है। मनुष्य के अन्दर जो दिव्य आत्मा है, उसके विरुद्ध यह विद्रोह है। यह सम्पूर्ण का त्याग है। "ये हमारी इच्छाएं ही हैं, जो हमारी आत्मा की अनुभूति के अवसरों को सीमित करती हैं, हमारी चेतना के विस्तार में बाधक बनती हैं और उस पाप को जन्म देती हैं, जो अन्तरतम बाधा है, जो वियोग तथा अनन्यता के गर्व को उत्पन्न करती हुई हमें अपने परमात्मा से अलग रखती है। क्योंकि पाप केवल एक क्रिया नहीं है अपितु यह जीवन का रुख है, जो यह मान लेता है कि हमारा उद्देश्य सान्त है, हमारी आत्मा अन्तिम सत्य है, और हम सब मौलिक और तात्त्विक रूप से एक नहीं हैं, बल्कि हममें से प्रत्येक की अपनी पृथक् वैयक्तिक सत्ता है।"[१] बुराई आत्मा की मिथ्या स्वतन्त्रता का समर्थन है। यह व्यक्ति का सारे संसार के विरुद्ध विरोध है, जो व्यक्तिगत आत्मा का आधार और सत्य है। यह अपनी सच्ची आत्मा के विरुद्ध ऊपरी आत्मा का दावा है। यह आत्मा के विरुद्ध आत्मा के विभाजन का प्रतिनिधित्व करता है। जो आत्मा छायारूप है, उसका उस आत्मा के प्रति विरोध है, जो वास्तविकता है। "जो कुछ तुम हो, उसे तुम देखते नहीं हो। जिसे तुम देखते हो वह तुम्हारी परछाईं है।"[२] जब स्वार्थ के मानदण्ड स्थापित हो जाते हैं, तब मेरे-तेरे में भेद प्रारम्भ हो जाता है, मनुष्य धन-सम्पत्ति की कल्पनाप्रसूत वस्तुओं का दास बन जाता है, जिनका वास्तविक मूल्य नहीं है, किन्तु जो मात्र मायाजाल हैं, जिनकी उत्पत्ति का आधार स्वार्थमयी कल्पना है।

मैं अकेला ही बाहर आया और अपने प्रेम-मिलन-स्थल के रास्ते पर चल पड़ा। परन्तु वह कौन है, जो इस मूक अन्धकार में मेरे पीछे आ रहा है!

मैं उसकी उपस्थिति से बचने के लिए एक ओर चल पड़ता हूं, किन्तु मैं उससे पीछा छुड़ा नहीं पाता।

---

[१] साधना, पृष्ठ १११

[२] स्ट्रे बर्ड्स, पृष्ठ १८

वह अपनी अकड़ की चाल से पृथ्वी की धूल उड़ा रहा है, वह मेरे प्रत्येक शब्द में अपनी ऊंची वाणी को मिश्रित कर रहा है।

मेरे प्रभो, वह मेरी ही अपनी तुच्छ आत्मा है। उसे कोई लज्जा नहीं, किन्तु उसके साथ तेरे दरवाजे पर आते हुए मुझे लज्जा अनुभव होती है।[१]

हमारी स्वार्थभरी इच्छाएं हमारी जंजीरें हैं, और हमारी सम्पत्तियां हमारी सीमाएं।[२] "कुहरा पृथ्वी की इच्छा की तरह है। यह उस सूर्य को छिपा देता है, जिसके लिए पृथ्वी रोती-कलपती है।"[३] स्वार्थ वह कुहरा है, जो हमारी दृष्टि को धूमिल कर देता है और हमें अपनी असली सत्ता को भुला देता है। अपनी स्वार्थपरायणता में हम यह सोचते हैं कि सान्त पदार्थ हमारे अन्दर की अनन्त की अभिलाषा को संतुष्ट कर सकते हैं। जब हम मिथ्या उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, तो हम अपनी इच्छाओं से बंध जाते हैं।[४] जो कुछ हमें प्राप्त होता है, उससे हमारी वास्तविक इच्छाएं तृप्त नहीं होतीं। फिर भी हृदय पर बोझ बना रहता है, फिर भी परमात्मा के लिए प्यास रहती है, अनन्त और सर्वोत्कृष्ट के लिए भूख रहती है। यह हमारी सान्तता और अशक्ति का चिह्न है। वास्तव में हम भलाई को प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु अज्ञानवश गलत चीज को ही भलाई समझ लेते हैं। बुराई बुराई के रूप में मनुष्य का उद्देश्य नहीं है। अज्ञान और स्वार्थपरता के कारण हम यह विश्वास करते हैं कि परम सुख का रास्ता धन-सम्पत्ति की प्राप्ति का रास्ता है। हमारे लिए इस बात की कल्पना करना कठिन है कि हम किस सीमा तक भौतिकवादी हो गये हैं। मनुष्य धन-सम्पत्ति के भारी संचय के लिए पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है। जिस मनुष्य के अन्दर अपनी वास्तविक आत्मा है, उसे धन और धन से खरीदी जा सकनेवाली वस्तुओं से सान्त्वना नहीं मिल सकती। तो भी एक बात में हमारी दिलचस्पी है कि हम कैसे तुरन्त

---

[१] गीतांजलि, ३०

[२] गीतांजलि, ७, ८, ९ तथा २९; फ्रूट गैदरिंग, ११

[३] स्ट्रे बर्ड्स, ९४

[४] गीतांजलि, ३१

धनी बन सकते हैं या धन बना सकते हैं। इस बात की वे तनिक परवाह नहीं करते यदि दूसरे आदमी धन पैदा करने की दौड़ और हड़बड़ी में नीचे चले जाते हैं और धनोपार्जन के पागलपन का रास्ता ऐसे असंख्य आदमियों से घिरा है, जिनको इस मार्ग में भारी कष्ट सहन करने पड़ते हैं। मनुष्य समझता है कि उसे उस असीम अव्यवस्था तथा गड़बड़ी में आनन्द प्राप्त हो रहा है, जो उस समय उत्पन्न होती है जब आत्मा की आत्मा से मुठभेड़ होती है और जब आत्मा प्रकृति के नीचे कुचली जाती है। किंतु जो धन प्राप्त करते हैं, वे हमेशा की तरह दुःखी रहते हैं। वे अपने महलों की अतुल सम्पत्ति, अपनी मोटरकारों की लागत और अपनी शराबों के ऊंचे मूल्यों के सम्बन्ध में एक-दूसरे से स्पर्धा करते रहते हैं। संसार की अच्छी चीजों के लिए संघर्ष तबतक जारी रह सकता है जबतक कि प्रलय नहीं होता, किन्तु इससे आत्मा कभी सन्तुष्ट नहीं होती। सुख और शान्ति दूर रहेगी, विश्रान्ति का आनन्द अज्ञात रहेगा और आत्मा की तड़प अतृप्त रहेगी। मनुष्य के ऐसे उद्देश्य भी हैं, जो मौत के साथ समाप्त नहीं होते। यदि वह पूर्णतया भौतिक होता तो उसे प्रकृति द्वारा सन्तुष्ट किया जा सकता था। मनुष्य में तो आत्मा का अमर तत्त्व है। "जो समय को जीत लेता है और जो उस समय में भी रहता है और रहेगा, जब समय का अस्तित्व ही नहीं रहेगा।"[1] उसकी आत्मा को भौतिक जगत् से सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। "मानवीय जीवन की दुःखद घटना हमारे जीवन के वे व्यर्थ प्रयत्न हैं जिनके द्वारा हम उन वस्तुओं की सीमा का विस्तार करना चाहते हैं जो कभी भी असीम नहीं बन सकतीं' और जिनके द्वारा हम सान्त की सीढ़ियों में हास्यास्पद रूप से वृद्धि करके अनन्त तक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं।[2] आत्मा की आवश्यकता अनन्त सन्तोष है। किन्तु जबतक यह सान्त और स्वार्थी है, और जबतक यह संसार के विरुद्ध अपनेको खड़ा करती है, तबतक उस आदर्श की प्राप्ति नहीं हो सकती। आत्मा हमेशा ही उससे सीमित होगी, जो उसके बाहर

[1] कारलाइल

[2] साधना, पृष्ठ १५०-१५१

है। यह अनगिनत तरीकों से पदार्थों को इकट्ठा करती रह सकती है, किन्तु इसकी अवस्था जैसी संसार की खोज से पहले थी, संसार की खोज के बाद उससे अच्छी नहीं है। सीमा अभी भी वहां है। पदार्थों की प्राप्ति से केवल थकान की पीड़ा बढ़ गई है। निराशावाद इसका परिणाम है। शोपनहार का यह सिद्धान्त सत्य है कि अपनी एकान्तिक वैयक्तिकता में व्यक्ति का अपने महत्त्व को स्थापित करने का प्रयत्न मात्र उसके कष्ट को ही बढ़ाना है। इस अवस्था से छुटकारे का उपाय यह है कि व्यक्ति अपने से परे विद्यमान उद्देश्य के प्रति भक्ति के द्वारा अपनी एकान्तिकता को छोड़ दे। यदि मानव-स्वभाव इतना सीमित है कि उसके लिए अधिक बड़े उद्देश्य में तल्लीन होना असम्भव है, तो मनुष्य का भाग्य सचमुच दयनीय है। उस अवस्था में किसी आचारशास्त्र, तर्कशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र का बुद्धिगम्य हो सकना असम्भव है। प्रासंगिक रूप से रवीन्द्रनाथ ने उस दुर्भाग्य की ओर भी संकेत किया है, भारतवर्ष जिसका शिकार बन रहा है। जबकि पश्चिम इन दोषों के सीमातीत कुपरिणामों के प्रति सजग हो रहा है, भारतवर्ष तेजी से उनका शिकार बन रहा है। वह शनैः-शनैः आत्मा और भौतिक परिस्थितियों की अधीनस्थता के अपने आदर्शों को भौतिकतावाद और आमोद-प्रमोद के आदर्शों से बदल रहा है। निर्धनता से डरते हुए और स्वर्ग के पीछे दौड़ते हुए शिक्षित वर्ग इस दिशा में सबसे बुरे पापी हैं। बहुत-से सीधी तथा ऊंची चट्टान पर रह रहे हैं, और बहुत-से पैसे और पद के कठोर उद्योग की थकान के कारण लड़खड़ा रहे हैं। धन की इस प्रतियोगिता में जिनके भाग्य ने सहायता की है वे उन मनुष्यों को बुरा समझकर उनकी केवल हँसी उड़ाते हैं जो आध्यात्मिक विषयों में अपना ध्यान लगाते हैं।

घर जाते हुए मनुष्य मुझे सरसरी निगाह से देखते हैं, मुस्कराते हैं, और मुझे शर्मिन्दा कर देते हैं। मैं अपने चेहरे पर अपने आंचल को डाले हुए भिखारी की तरह बैठता हूं, और जब वे मुझसे पूछते हैं कि तुम क्या चाहते हो, तो मैं आंखें नीची कर लेता हूं और उन्हें उत्तर नहीं दे पाता हूं।[1]

[1] गीतांजलि, ४१

मेरे परमात्मा, जिनके पास तेरे सिवाय सब-कुछ है, वे उनकी हँसी उड़ाते हैं जिनके पास तुम ही हो और कुछ नहीं।[1]

उपनिषद् में कहा है, "कोई मनुष्य धन-सम्पत्ति से अमरता प्राप्त नहीं कर सकता।" धन-सम्पत्ति केवल साधन है, साध्य नहीं। किन्तु जब यह साध्य बनकर मनुष्य-जाति पर सवारी करती है तो मनुष्य पतित हो जाता है,[1] क्योंकि जब मनुष्य अपने अस्त्र-शस्त्रों को अपना देवता मान लेता है और "जब उसके अस्त्र-शस्त्र जीत जाते हैं तो वह स्वयं पराजित हो जाता है।"[2] हमारी प्रार्थना यह होनी चाहिए, "हे नाथ, मुझे उस धन-सम्पत्ति का छोटे-से-छोटा अंश दीजिये जो संसार की सारी सम्पदा को व्यर्थ समझती है।"[3]

जो बात व्यक्तियों के बारे में सत्य है, वह राष्ट्रों के बारे में भी सत्य है। स्वार्थ यहां पर भी बुराई की जड़ है। मानवता के विचार से वंचित देशभक्ति बड़े परिमाण में केवल स्वार्थ ही है। व्यक्ति सम्पत्ति चाहता है, राष्ट्र भूमि चाहता है; दोनों ही अवस्थाओं में भौतिक पदार्थों के लिए लोभ और भूख है। साम्राज्यवाद उस स्वार्थ के सिवाय कुछ नहीं है जिसका आकार विशाल है और जिसका सारे राष्ट्र से संबंध है। यह स्वार्थपूर्ण राष्ट्रीयता का परिणाम है। यह मानवीय लोभ और लालसा का व्यवस्थित रूप है। राष्ट्र तब भी सन्तुष्ट नहीं होते, जब उनकी महत्त्वाकांक्षाएं भी पूरी हो जाती हैं। सिकंदर महान् ने आह भरकर कहा था कि अब कोई भी संसार उसकी विजय के लिए शेष नहीं रहा। जो युद्ध यूरोप को खून में डुबो रहा है, उससे भी यही शिक्षा मिलती है। यूरोप के राष्ट्रों ने अपना चाहा सब-कुछ पा लिया है; पृथ्वी की सारी अच्छी चीजें, व्यापार, बन्दरगाह आदि उनके हैं। वे अपने लिए जीते रहे हैं, दूसरी जातियों को हानि पहुंचाकर वे स्वप्नातीत रूप में धनी हो गये हैं, और उन्हें किसी चीज की कमी नहीं है, तो भी वे चिन्तातुर हैं। उनकी महत्त्वाकांक्षा का कोई अन्त नहीं

---

[1] स्ट्रे बर्ड्स, २२६

[2] स्ट्रे बर्ड्स, ४५

[3] फ्रूट गैदरिंग, २७

है। हम उन्हें नये आधिपत्यों को प्राप्त करने के ज्वर से पीड़ित देखते हैं, जिसके लिए वे उन्मत्त प्राणियों की तरह इधर-से-उधर भागते-फिरते हैं, मानों उन्हें डांसों ने काट लिया हो। "लगातार अपने भण्डारों को भरते रहना यह अन्तहीन रूप से थकानेवाला कठिन काम है।"[१] भौतिक सम्पत्ति की वृद्धि से अनन्त का सन्तोष नहीं प्राप्त किया जा सकता। बाह्य लाभ जितना बड़ा होता है, उतना ही बड़ा आन्तरिक असन्तोष होता है। समुद्र में भी प्यासे रहते हैं। वहां सब जगह पानी है, किन्तु पीने के लिए एक बूंद भी नहीं है। रवीन्द्रनाथ ने इन शब्दों के द्वारा पाश्चात्य सभ्यता की मूलभूत त्रुटियों की ओर संकेत किया है। "यहां के तुम सब लोग सतत संघर्ष की अवस्था में दिखाई पड़ते हो। जीने के लिए यह कठोर संघर्ष है। यहां उस विश्रान्ति, उस मानसिक शान्ति और उस चिन्तनात्मक उपशमन को कोई स्थान नहीं है, जिसकी हम अपने देश में, अपनी जीवन-प्रेरणाओं के स्वास्थ्य के लिए, आवश्यकता अनुभव करते हैं।" जहां बिली सण्डे नामक प्रचारक व्याख्यान दिया करता था, यहूदियों के उपासना के उस पंडाल के वातावरण के सम्बन्ध में कुछ बतलाते हुए किसीने कहा है : "यहां तो चर्च के वातावरण की अपेक्षा सर्कस का वातावरण अधिक है। उपासना के इस अस्थायी मन्दिर में ब्रह्मविद्या की अपेक्षा मनोरंजन और मनोविनोद की सामग्री अधिक है. . . . ." इसी बात को एक नवयुवक ने इन शब्दों में प्रकट किया है, "अब मैं चलचित्र देखने नहीं जाता· · ·मैं तो उस पंडाल में जाता हूं, जो कि अस्थायी रूप से यहूदियों द्वारा प्रार्थना-उपासना के लिए लगाया गया है। यह अच्छा तमाशा है और मुझे इसके लिए कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता।"[२] जब प्रार्थना का मन्दिर मनोरंजन का केन्द्र बन जाता है, चर्च जाना उत्तेजना के लिए छोटा रास्ता बन जाता है, तो इससे यह मालूम पड़ता है कि मनुष्य का मन कितना नीचा और छिछोरा हो गया है। पाश्चात्य समालोचकों की दृष्टि में भी यह

[१] साधना, पृष्ठ १४७

[२] 'आउट लुक' (१८ अप्रैल १९१७, पृष्ठ ७०६) में डॉ० मलफोर्ड का कथन

दोष आया है। हमारे सामने वर्तमान सभ्यता के रोग के लिए ऐडवर्ड कारपेण्टर का इलाज है। मैथ्यू आरनल्ड ने इस कमजोरी को इन शब्दों में प्रकट किया है :

हम सरसरी निगाह से देखते हैं और सिर हिलाते हैं और जल्दी से आगे बढ़ जाते हैं।

और कभी एक बार अपनी आत्माओं को मरने से पहले अपने सामने नहीं रखते।

हमारा विश्वास है कि केवल गति जीवन है, और यह भी विश्वास है कि इसका जितना वेग होगा, उतना ही अधिक वह प्राणशक्ति को प्रकट करेगा।[1]

(९)

होना और बन जाना, शान्ति और संघर्ष यथार्थ के अविभाज्य पहलू हैं। निरपेक्ष सत्ता में संगति और शान्ति जितनी सम्मिलित है, उतना ही खिंचाव और तनाव। पाश्चात्य व्यक्ति की विद्यमानता की परवाह नहीं करता है, किन्तु वह कुछ बन जाने के संघर्ष की दुनिया में तल्लीन रहता है। करने और बनने के इसी आग्रह के कारण "हमको पश्चिम में शक्ति का मद दिखाई पड़ता है।"[2] श्री जी० लॉज डिकिंसन ने टिप्पणी की है: "सारा अमेरिका नियागरा है—जो दिशाहीन शक्ति है, महत्त्वहीन कोलाहल है और सिद्धिहीन गति है।" पाश्चात्यों के लिए रवीन्द्रनाथ की शिक्षा यह है कि उन्हें उत्तेजनापूर्ण जीवन नहीं बिताना चाहिए। नवीनता और उत्तेजना के लिए प्रेम जीवन का सिद्धान्त नहीं होना चाहिए। प्रकृति पर विजय के कारण नशे में चूर पश्चिम को विश्रान्ति और चिन्तन के लिए अवकाश की आवश्यकता है। "हमारे देश में खतरा विरुद्ध दिशा से है।"[3] हम होने के पहलू पर बल देते हैं, पर हो जाने की दुनिया की परवाह नहीं करते, और इसलिए हमें 'आत्मा का उन्माद' होता है। आत्मा की बातों

---

[1] 'करेण्ट ओपीनियन' अप्रैल, १९१७ में अमेरिकन महिलाओं के लिए टैगौर का संदेश।

[2] साधना, पृष्ठ १२६

[3] साधना, पृष्ठ १२६

का ध्यान रखते-रखते हमारा संसार की वस्तुओं की ओर ध्यान नहीं रहा है और इसलिए अब हम संसार से दीर्घकालीन उदासीनता तथा पारलौकिकता का फल भोग रहे हैं। हमने कभी अपने देश की भारी जनता के लिए भौतिक जीवन की उन आवश्यक परिस्थितियों की व्यवस्था करने की परवाह नहीं की है, जो सभ्य जीवन के लिए अपरिहार्य हैं। इस सम्बन्ध में हमें पश्चिम से बहुत-कुछ सीखना है। रवीन्द्रनाथ, पाश्चात्यों द्वारा देह के ऐसे संवर्धन का, जिससे आत्मा भूखी मर जाती है, और प्राच्यों के आत्मा के संरक्षण के, जिससे देह की हिंसा होती है, दोनों के समान रूप से प्रचंड विरोधी हैं। वास्तव में दोनों की पूर्ण संगति आदर्श है। जीवन के प्रति सन्तुलित मनोवृत्ति के लिए संसार में जितनी आवश्यकता विचार और चिन्तन के लिए अवकाश तथा एकान्त की है, उतनी ही क्रियाशीलता की भी है। हमें चिन्तन की शान्ति और जीवन का संघर्ष, आत्म-परित्याग का आनन्द और निर्माण-कला का अभिमान दोनों को ही चुनना पड़ता है, इनमें से किसी एक को नहीं। "किन्तु सच्ची आध्यात्मिकता, जिसकी शिक्षा हमारे पवित्र ग्रंथों में दी गई है, वह शक्ति है जो आन्तरिकता तथा बाह्यता के पारस्परिक शान्तिपूर्ण सन्तुलन से निर्मित होती है।"[1] रवीन्द्रनाथ इस अर्थ में असांसारिक नहीं हैं कि संसार के प्रति उन्हें घृणा है, यद्यपि उन्होंने संसार की बातों को आत्मा की बातों से कम महत्त्व का माना है। जो संसार से बचना चाहता है, वह उनके लिए असहनीय है, "तुम्हें यह जान लेने का शौक है कि मैं इस संसार को प्यार करता हूं जहां तुम मुझे लाये हो।"[2] उन्होंने भारत के उन अव्यावहारिक स्वप्न-द्रष्टा आध्यात्मिक पुरुषों का, जिनमें कार्य की शक्ति नहीं, कर्म और सामाजिक आदर्शवाद के प्रचारक बनने का आवाहन किया है। जो व्यक्ति संसार के कार्य से बचकर भागता है, वह उस व्यक्ति की तरह है जो युद्धभूमि से भाग खड़ा होता है। जीवन विश्रान्ति नहीं, बल्कि खेल है; कवायद नहीं वरन् युद्ध है। रवीन्द्रनाथ ने हमें चेतावनी दी है

---

[1] साधना, पृष्ठ १२६

[2] फ्रूट गैदरिंग, ७५

कि हमें अपनेको दिवास्वप्न या गम्भीर चिन्तन में ही लीन नहीं रखना चाहिए, वरन् यथार्थ का मुकाबला करना चाहिए और जीवन के युद्ध में लड़ना चाहिए। भारतीय संन्यासी को रवीन्द्रनाथ की सलाह है, "अपने ध्यान-धारणा से बाहर आ और अपने धूप-दीप तथा फूलों को एक ओर रख ! यदि तेरे वस्त्र लीर-लीर हो जाते हैं और उनपर दाग़-धब्बे पड़ जाते हैं तो तेरा क्या नुकसान है ! उससे मिल और परिश्रम करके तथा पसीना बहाकर उसकी सहायता कर !"[1] इसमें सन्देह नहीं कि रवीन्द्रनाथ इस बात से अभिज्ञ हैं कि "जो अच्छे कार्य करने में तत्पर है, उसे भला बनने का समय नहीं मिलता।"[2] वह आज के भारत के देशभक्त के प्रति कठोर हैं, जो कि अभिमान की सीमा तक पहुंची हुई आत्म-चेतना के साथ गरीबों की गंदी गलियों में सहायतार्थ घूमता है, क्योंकि ऐसा करना फैशन है; और सभाएं करता फिरता है, क्योंकि वैसा संसार का तरीका है; व्याख्यान देता फिरता है क्योंकि वह पदोन्नति का मार्ग है। जो आदमी समाज की इस प्रकार की गन्दगी को दूर करने में लगे हुए हैं, वे अपनी आत्मा की रुग्णता पर परदा डाल रहे हैं और वास्तव में भारत के बच्चों के शाश्वत कल्याण को भी हानि पहुंचा रहे हैं। जो सच्चा कार्यकर्त्ता अपने काम में आनन्द के लिए काम करता है, वह अपने कार्य को बिना किसी प्रदर्शन के सादगी और स्वाभाविकता से करता है। "मैदान की घास से लेकर आकाश के तारों तक प्रत्येक ठीक वही कर रहा है।"[3] "या तो तुम्हारे पास काम है या काम नहीं है। जब तुम यह कहते हो कि 'हमें कुछ करना चाहिए', तब शैतानी शुरू होती है।"[4] "जो भलाई करना चाहता है, वह दरवाजा खटखटाता है; जो प्यार करता है, उसे दरवाजा खुला मिलता है।"[5] रवीन्द्रनाथ ने अपने व्यवसाय के प्रति ऐसे पूर्ण आत्मसमर्पण की वकालत की है कि वह उसके लिए अज्ञात हो जाता है। क्योंकि सर्जनात्मक क्रिया और

---

[1] गीतांजलि, ११

[2] स्ट्रे बर्ड्स, १८४

[3] लेटर्स, 'माडर्न रिव्यू', मई १९१७

[4] स्ट्रे बर्ड्स, १७१

[5] स्ट्रे बर्ड्स, ८३

आनन्द का ऐसा नियम है कि "अपनी महानतम स्थिति में व्यक्ति आत्म-विस्मृत होता है।"[1]

केवल पूर्ण आदर्श का अनुसंधान ही अनन्त आत्मा को सन्तुष्ट कर सकता है। सम्पूर्ण से कम कोई चीज 'मृगतृष्णा की तरह मिथ्या, बुलबुले की तरह रिक्त'[2] होती है। "अंश में पूर्ण की मूर्ति देखना असंगत है। जल्दी या देर से अंश की सन्तुष्ट न करने की प्रकृति अपनेको व्यक्त कर देगी।" "हमें अपने बुरे काम को, असंगति के जीवन को, समाप्त करना चाहिए। क्योंकि बुराई अनन्त नहीं है, और असंगति अपने-आपमें उद्देश्य नहीं हो सकती।"[3] "बुराई दिन-दहाड़े पूर्णतया जीवन-धारा को अधिकृत और अवरुद्ध नहीं कर सकती, और इसके स्वत्वों का अपहरण नहीं कर सकती। क्योंकि बुराई को समाप्त होना पड़ता है। इसे भलाई में विकसित होना पड़ता है। यह खड़ी नहीं रह सकती और सबसे लड़ाई नहीं लड़ सकती।" कोई भी तुच्छता हमें असत्यता की दीवारों में सदा के लिए बन्द नहीं रख सकती।"[4] "गलतियां अपने नाश की केवल भूमिकाएं हैं।"[5] क्योंकि गलती और असत्यता अपनी अन्तंव्यापी तार्किक असंगतियों और विरोधों से अवश्य समाप्त हो जायंगीं, यदि उनके परिणाम निकलने तक उन्हें हल किया जायगा। इसी तरह बुराई भी स्वयं अपनी विरोधी दिखाई पड़ेगी और अपने मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध सिद्ध होगी, और उस उद्देश्य के लिए अपनी अपर्याप्तता को स्वीकार करेगी, जिसे सन्तुष्ट करने के लिए वह अभिप्रेत थी। सब चीजों के विरुद्ध पाप बना नहीं रह सकता। बुराई वह मनोवृत्ति है, जो सतत रूप में कभी जारी नहीं रक्खी जा सकती। केवल अनन्त सत्ता ही आत्मा को सन्तुष्ट कर सकती है। "हमारा हृदय तबतक अशान्त

---

[1] नेशनेलिज़्म, पृष्ठ ८१

[2] दि किंग ऑफ़ दी डार्क चैम्बर, पृष्ठ ११३

[3] साधना, पृष्ठ ८४

[4] दि किंग ऑफ़ दि डार्क चैम्बर, पृष्ठ १४

[5] दि किंग ऑफ़ दि डार्क चैम्बर, पृष्ठ १५४

रहता है जबतक कि उसे तुझमें विश्रान्ति प्राप्त नहीं होती।" —यह ऑगस्टाइन का कथन है। कोई भी दूसरी चीज इसे सन्तुष्ट नहीं करती। टालेर ने घोषणा की है: "आत्मा की इच्छा ऐसी खाई है, जिसे सिवाय अनन्त भलाई के और किसीसे पाटा नहीं जा सकता।" इसी तरह से रवीन्द्रनाथ ने भी घोषणा की है : "तेरे चेहरे को देखे बिना मेरे हृदय को कोई विश्रान्ति या विराम नहीं मिलता है !" "मेरा हृदय इस बात को सदा दोहराता रहे कि मैं तुझे, केवल तुझे, चाहता हूं। दूसरी जो इच्छाएं रात-दिन मेरे ध्यान को बंटाती हैं, वे पूर्णतया मिथ्या और निरर्थक हैं।"[१]

पाप पर विजय प्राप्त करने के लिए हमें अपनी एकान्तिकता को तिलांजलि देनी पड़ती है और अपने विश्वास को दृढ़ता से सब-कुछ अन्तर्निविष्ट करनेवाले सम्पूर्ण में स्थापित करना चाहिए। मनुष्य की चेतना तब पूर्ण हो जाती है जब वह परमात्मा की चेतना में अन्तर्लीन हो जाती है। धर्म हमें परमात्मा के उस प्रेम के बारे में बतलाता है, जिसमें हमारे सारे पार्थिव सम्बन्ध निगीर्ण हो जाते हैं। परमात्मा के साथ आत्मा के केवल ऐसे सम्बन्ध में ही हमारी कामनाओं की सिद्धि होती है। यह अन्तिम स्थिति पूर्ण आनन्द और पूर्ण संगति की स्थिति है, जिसमें सारी असंगतियों पर काबू पा लिया जाता है; एक अनन्त शान्ति है, जिसमें जीवन का क्षोभ शान्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में सब मान्यताओं का मूल्य परिर्वातित हो जाता है।

जब मैं अपने क्षणों का यह अन्त सोचता हूं तो क्षणों की बाधा दूर हो जाती है और मैं मृत्यु के प्रकाश में उपेक्षित धन-कोषों से भरपूर तेरे संसार को देखता हूं। इसकी निम्नतम स्थिति विरल है, इसका तुच्छतम जीवन विरल है।

जिन चीजों की मैं व्यर्थ इच्छा करता रहा और जो चीजें मुझे मिलीं, उन्हें जाने दो। किन्तु मुझे सचमुच उन चीजों को अपने पास रखने दो, जिनको मैं सदा उपेक्षा की दृष्टि से देखता रहा और ठुकराता रहा।[२]

---

[१] गीतांजलि, ५ और ३८

[२] गीतांजलि

बहुत-कुछ, जिसे हम महान् कहते हैं, अपनी महत्ता खो बैठता है; बहुत-कुछ, जिसे हम तुच्छ कहते हैं, महान् बन जाता है। हम मनुष्य का मूल्य मनुष्य के रूप में देखेंगे और उसकी संपत्ति के अनुसार उसके मूल्य का निर्धारण नहीं करेंगे। यह संभव है, बच्चा, दास और वेश्या ऐसे राज्य में विद्वान्, धनी और राजा से उच्चतर स्थान प्राप्त कर लें। उस समय हम आत्मा के माध्यम के रूप में धन का, और मन के साधन के रूप में प्रकृति का, वास्तविक महत्त्व पहचानेंगे। हमें मालूम पड़ेगा कि आत्मा की वस्तुएं वास्तविक हैं और अन्तिम आश्रय के रूप में वे ही केवल वास्तविक हैं। मनुष्य को मनुष्य से विभक्त करनेवाली दीवारें पारदर्शक हो जायंगी; स्वार्थ जो एकमात्र पाप है माया की प्राप्ति का प्रयत्न प्रतीत होगा। तब हम 'दि किंग ऑव दि डार्क चैम्बर' की राजकुमारी के साथ एक स्वर में कहेंगे, "इसमें मेरा कुछ भी नहीं है। हे भगवान्! यह सब आपका है।"[1]

पाश्चात्य ईसाई धर्म और वेदान्त धर्म, इन दोनों के बीच स्पष्ट और निश्चयात्मक भेद मनुष्य के प्रति परमात्मा के संबंध में है। पाश्चात्य ईसाई धर्म मनुष्य की पाप-परायणता, अपराध-प्रवृत्ति और परमात्मा द्वारा मुक्ति की आवश्यकता पर बल देता है। यदि मनुष्य को, जो स्वभाव से ही भ्रष्टाचारी है, पुण्यात्मा बनना है, तो ऐसा वह दैवी शक्ति को हृदय में धारण करके ही सकता है। किन्तु रवीन्द्रनाथ मनुष्य के स्वभावतः दोषी होने के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं। "कुछ लोग मानते हैं कि मनुष्य का स्वभाव पापपरायण है और केवल परमात्मा के विशेष अनुग्रह से ही किसी विशेष व्यक्ति की रक्षा की जा सकती है। यह कथन इसी प्रकार का है कि बीज का स्वभाव अपने छिलके के अन्दर बंद रहना है और केवल किसी विशेष चमत्कार से ही उसे पेड़ के रूप में उपजाया और बढ़ाया जा सकता है।"[2] रवीन्द्र के मत में परमात्मा और मनुष्य के बीच की बाधा उसी तरह दूर हो जाती है जिस तरह वेदान्तदर्शन में। अनन्त शक्ति मनुष्य में रहती है

---

[1] दि किंग ऑफ़ दि डार्क चैम्बर, पृष्ठ १९९

[2] साधना, पृष्ठ ७४

और वही मनुष्य होने का उत्कर्ष है। "युगों पुरानी जीवन की इस धड़कन पर मुझे गर्व है, जो इस पल भी मेरे रक्त में थिरकन कर रही है।"[1] मनुष्य में अनन्त शक्ति इस अर्थ में नहीं है कि उसका पूर्णतया अनुभव कर लिया गया है, वरन् इस अर्थ में है कि वह उसमें सुप्त रूप में विद्यमान है। मनुष्य परमात्मा की केवल विशेष स्थान में अभिव्यक्ति है। जो प्रकाश इस संसार में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को आलोकित करता है, वह उसमें है, यद्यपि वह उसमें से दीप्तमान नहीं होता है। प्रगति मनुष्य के अंदर विद्यमान पूर्ण प्रकाश का, सदा बढ़ती हुई और चमकदार ज्योति के साथ आविर्भाव या बाहर प्रकट होना है। पूर्ण प्रकाश के बाहर चमकने के लिए आवृत करनेवाले अज्ञान को दूर करना पड़ता है।

हम सबमें एक अन्तरतम केन्द्र है,
जिसमें सच्चाई अपनी पूर्णता में निवास करती है;
और जिसके चारों ओर, एक दीवार के बाद दूसरी दीवार है,
और जिसे अन्दर चारों ओर से अनुभूतिशून्य मांस ने घेर रखा है....
और उसे जानने के लिए अधिक सत्य तो यह है कि बाहर को एक मार्ग है,
जिसमें से वह बन्द दीप्ति बचकर बाहर निकल सकती है;
अपेक्षा इसके कि वह उस दीप्ति को अन्दर भेजने का मार्ग हो, जो दीप्ति बाहर मानी गई है।

हमें अविद्या को दूर करने की, माया या स्वार्थपरता के बन्धनों को तोड़ने की आवश्यकता है और हमें उस क्रुद्ध परमात्मा की प्रार्थना के परिणामस्वरूप बाहर से दैवी आत्मा को प्रविष्ट कराने की आवश्यकता नहीं, जो परमात्मा अब भी मनुष्य को प्यार करता है और उसकी दुर्बलता पर दया करता है। प्रकाश विद्यमान है, किन्तु अंधकार और स्वार्थपरता के बादल में लिपटा हुआ है। पाप उस अन्धकार का आसक्तिपूर्ण प्रेम है जिसे हम वास्तविक आत्मा समझते हैं। तिमिराच्छन्न और मलिन आत्मा यह मान बैठती है कि जो

[1] गीतांजलि, पृष्ठ ६९

आनन्द वह उठा रही है उससे उस ईश्वर का कोई संबंध है, जिससे कि वह आत्मा स्वयं संबंधित है। यह अपने अंधकार में आनन्द लेती है, और यही आनन्द इसकी मृत्यु और विनाश है। पापी आत्मा का यह विश्वास है कि समय के चक्र उसे उसकी आवश्यकताओं तथा आराम को प्रदान करने के लिए आगे बढ़ते हैं। उसके लिए सूर्य तथा चन्द्रमा चमकते हैं और पेड़ अपने फूल और फल धारण करते हैं। जब मिथ्या स्वावलंबन समाप्त हो जाता है तो उसके ये मापदण्ड उसकी आंखों से ओझल हो जाते हैं और मनुष्य बच जाता है। "जब मैं पतवार छोड़ देता हूं, मुझे मालूम होता है कि उसे तेरे ग्रहण करने का समय आ गया है।"[1] तब वह अनुभव करता है कि सारी सृष्टि एक है, जिसका केन्द्र परमात्मा है। यह कहा जाता है कि माइकेल एंगेलो ने कहा था कि संगमरमर के प्रत्येक खण्ड में प्रतिमा होती है और मूर्तिकार उन बाधाओं को दूर करके उसे प्रकाश में लाता है, जिनके द्वारा "मनुष्य की दिव्याकृति छिपी रहती है।" इसी तरह से हमें भी अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति की बाधाओं को दूर करना पड़ता है। मुक्ति अनुग्रह से नहीं, अविद्या और स्वार्थपरता को दूर करने से प्राप्त होती है। "भारत का अपना विशेष विचार यह है कि मनुष्य की सच्ची मुक्ति अविद्या से, अज्ञान से मुक्ति है। यह किसी ऐसी चीज को नष्ट करने में नहीं है, जो वास्तविक और निर्विवाद है, क्योंकि वैसा होना सम्भव नहीं। किन्तु ऐसी वस्तु को नष्ट करने में है जो अभावात्मक है और जो हमारे सत्य के दर्शन में बाधक है। जब यह बाधा, जो अज्ञान है, दूर हो जाती है, केवल तभी पलक को ऊंचा किया जाता है, जिसमें आंख की कोई हानि नहीं है।"[2]

वेदान्त के विचारों के अनुसार परमात्मा और मनुष्य की बीच की बाधा अनुल्लंघ्य नहीं है। मनुष्य वैसा ही पूर्ण हो सकता है जैसा कि पिता है, जो स्वर्ग में रहता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है, "जो ब्रह्म को जान लेता है, वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है।" मुण्डकोपनिषद्

---

[1] गीतांजलि, ९९

[2] साधना, पृष्ठ ७२; देखिये भूमिका, पृष्ठ ८ भी

का कथन है, "जो परब्रह्म को जान लेता है, वह सचमुच ब्रह्म हो जाता है।" किन्तु पश्चिम ने कभी अनन्त सत्ता के साथ हमारी एकता के विचार को स्वीकार नहीं किया है। "मनुष्य के परमात्मा होने की विवक्षा को इसने दूषित माना है और इसे ईश-निन्दा कहकर पुकारा है।" रवीन्द्रनाथ इस विचार पर दृढ़ हैं, "हां, हम अवश्य ब्रह्म बनेंगे और हमें इस बात को दृढ़ता से कहने में चूकना नहीं चाहिए। हमारी सत्ता निरर्थक है यदि हम कभी भी उस उच्चतम पूर्णता की प्राप्ति की आशा नहीं कर सकते, जो वहां विद्यमान है।"[१] हम जान चुके हैं कि मनुष्य के व्यक्तित्व की पूर्णता परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त करने तथा प्रेमातिरेक के परिणामस्वरूप आत्मा-त्याग में है। प्रकृति के इस संसार में मनुष्य अपनी मानवीय सीमाओं और तृष्णाओं के साथ पैदा हुए हैं और तो भी....अनन्त के स्वतन्त्र सक्रिय जीवन में अपने परमात्मा के साथ मिलकर एक हो गये हैं।"[२] कोई हिन्दू इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता कि जो ईसा के लिए संभव हो सका है, वह दूसरे आदमियों के लिए असंभव है। जो पूर्णता ईसा ने प्राप्त की थी, उसे सभी आदमी प्राप्त कर सकते थे, यदि वे चाहते। जिस प्रकार परमात्मा ने सभी युगों और देशों के द्वारा सन्देश दिया था, उसी प्रकार ईसा के द्वारा संदेश दिया। जब उच्चतम पूर्णता प्राप्त हो जाती है, तो उस जगदात्मा के साथ मनुष्य का स्वरैक्य हो जाता है, और तब उसकी आत्मा अनन्त तत्त्व के साथ पूर्ण संगत होती हुई धड़कती है।

(१०)

निषेध के प्रबल न्यायशास्त्र और निष्क्रियता के संन्यास-प्रधान आचारशास्त्र द्वारा समर्थित अद्वैत के कठोर दर्शन और रवीन्द्रनाथ टैगोर के मानव-दर्शन के बीच प्रबल विरोध है। शंकर के जन्म से पहले जिन शताब्दियों में भारतवर्ष बाह्य आक्रमणों का और आन्तरिक अराजकता का शिकार था, और परिणामस्वरूप भारत में घोर राजनैतिक

---

[१] साधना, पृष्ठ १५४-५५

[२] पर्सनेलिटी, पृष्ठ १०६

क्षीणता छायी हुई थी, उस समय संन्यास का संदेश देनेवाले बौद्ध धर्म ने उस भारतीय जनता को बहुत अधिक आकर्षित किया, जो उस समय तक जीवन से ऊब चुकी थी। बौद्ध धर्म के कुछ अवान्तर मतों के अनुसार कर्म से बचना मुख्य उद्देश्य है। सर्वोच्च बुद्धिमत्ता इस बात में है कि मनुष्य संसार से विरक्त होकर आत्मा में लीन हो जाय। बौद्ध धर्मावलम्बी के अनुसार, "यह संसार क्षणिक, घृणा-योग्य और दुःख-प्रद है; काया भार है, कामना बुराई है, और व्यक्तित्व कारागृह।"[1] जीवन के महान् आनन्द का स्थान इस संन्यास-संहिता ने ले लिया है। क्योंकि मनुष्य बाह्य संसार के साथ संघर्ष कर रहे थे, इसलिए उन्होंने उस धर्म का आश्रय लिया, जो उन्हें आन्तरिक शान्ति के अन्वेषण का अवकाश देता था। जिस तरह अपने राजनैतिक जीवन के सबसे अधिक बुरे दिनों में ग्रीक लोग अपने ही साधनों पर आश्रित कर दिये गए थे, क्योंकि उन्हें बाह्य संसार में कोई आनन्द उपलब्ध नहीं रहा था, उसी तरह भारतवासियों ने भी जीवन के प्रति अपने सन्तुलित दृष्टि-कोण को छोड़कर एकपक्षीय अमूर्त मत को अपना लिया था। यह व्यक्ति-वाद है, जिसके अनुसार व्यक्ति उस संसार से पृथक् रहना चाहता है, जो माया का ही विस्तार है। परिणामस्वरूप संसार के मूल्य का अपूर्ण अंकन हुआ। चिन्तन मनुष्य का एकमात्र उद्देश्य हो गया और संसार के विरुद्ध विद्रोह उसका साधन। भारतीयों ने सोचा, उन्हें उन बाधाओं को दूर कर स्वतन्त्रता प्राप्त करनी चाहिए, जिन बाधाओं ने मनुष्य को संयोगवश होनेवाली संसार की घटनाओं पर आश्रित कर दिया था, और आत्मा की निःसंग सत्ता में शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। शंकर का कार्य समन्वय करना था और हिन्दूधर्म को वह रूप प्रदान करना था, जिससे कि हिन्दूधर्म उन आत्माओं को भी संतुष्ट कर सकता, जिन्हें बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की शिक्षा मिली थी। शंकर के दार्शनिक समन्वय में बौद्ध धर्म और वेदान्त धर्म दोनों के केन्द्रीय सिद्धान्तों को मिलाकर एक करने का विशिष्ट प्रयत्न है। प्राचीन भारतीय ऋषि संसार के प्रति बहुत अधिक अपनापन अनुभव

---

[1] लारेंस बिनियोन, पेंटिंग इन दी फार ईस्ट, पृष्ठ २२

करते थे और समष्टि को अपने अंदर समानेवाले ईश्वरत्व में विश्वास करते थे। किन्तु बौद्ध धर्म संसार की प्रक्रिया में परमात्मा की आवश्यकता अनुभव नहीं करता है। यद्यपि भारत के प्राचीन ऋषियों ने संसार के आनन्दों से बचने की आवश्यकता पर बल कभी नहीं दिया, तो भी वे ऐन्द्रिय जीवन अर्थात् एक विशेष प्रकार की विशिष्ट विषयासक्ति के जीवन का विरोध करते थे। बौद्ध धर्म के अनुसार मनुष्य का परम लक्ष्य संसार से छुटकारा है। वेदान्त धर्म के मौलिक सिद्धान्तों में किसी प्रकार का परिवर्तन किये बिना, शंकर ने उनके साथ बौद्ध धर्म के माया तथा मठवाद के सिद्धान्तों को संश्लिष्ट कर दिया। बौद्ध धर्म सान्त विश्व के प्रवाह के सिद्धान्त का प्रचार करता था और शंकर ने स्वीकार किया है कि विश्व माया है। शंकर के दर्शन की स्पष्ट रूप से दिखाई पड़नेवाली बहुत-सी असंगतियों का कारण यह है कि वह बौद्ध धर्म तथा वेदान्त धर्म को अपने संश्लेषण में यथासंभव अपने-अपने रूप में बनाये रखने के लिए अत्यधिक उत्सुक थे। वेदान्ती के रूप में वह ब्रह्म या निरपेक्ष सत्ता को नहीं छोड़ सकते। किन्तु जब वह बौद्ध धर्मावलम्बी के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि सान्त मिथ्या है, उस समय उनकी निरपेक्ष सत्ता कुछ ऐसी चीज बन जाती है, जिसमें सब-कुछ लुप्त हो जाता है, और कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। यदि परिवर्तन और वर्द्धनशीलता को अवास्तविक माना जाय, तब तो स्थायित्व भी अवास्तविकता में परिवर्तित हो जाता है; किन्तु वेदान्तसम्मत निरपेक्ष सत्ता उनका पीछा नहीं छोड़ती है; और यह ठीक ही है कि वह उस सत्ता को शुद्ध स्वीकृति या पूर्णता के रूप में देखता है। शंकर के साहित्य में कुछ प्रसंग मिलते हैं, जहां संसार और निरपेक्ष सत्ता के बीच संबंध का उनका ठीक दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। किन्तु इन प्रसंगों ने अपनी प्रभावशीलता खो दी है, क्योंकि उनके साहित्य में विरोधी मत को प्रकट करनेवाले प्रसंग मिलते हैं और उनके दर्शन के व्याख्याताओं ने उनकी उपेक्षा ही कर दी है। किन्तु इस बात का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता कि वेदान्ती के रूप में शंकर सत्ता की जिस स्वीकारात्मक पद्धति का अनुसरण करते हैं और बौद्ध धर्म के व्याख्याता के रूप में कभी-कभी सत्ता की जिस निषेधात्मक पद्धति का

अनुकरण करते हैं, उनकी आपस में असंगति और विरोध है।

बौद्ध धर्म ने क्योंकि दो हजार वर्ष पूर्व आर्यों के प्राचीन संतुलित दृष्टिकोण को भंग कर दिया था, इसलिए भारत में पदार्थ के विरुद्ध आत्मा विद्रोह करती रही है। जब इस देश में बौद्ध धर्म बिल्कुल समाप्तप्राय हो गया, तो शंकर की विचारधारा ने उस ज्योति को प्रदीप्त रखा है। यद्यपि बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि से विशेष सम्प्रदाय के रूप में लुप्त हो गया है तो भी बौद्धधर्म की शिक्षाएं भारत की धार्मिक शिक्षाओं का आवश्यक अंग रहीं, क्योंकि हिन्दू दर्शन के सामान्य विकास में बौद्धधर्म के सिद्धान्त हिन्दूधर्म में खप गये। वे भारतीय विचार के मुख्य प्रवाह में मिलकर एक हो गये। प्रातःस्मरणीय सन्तों और ज्ञानियों का विशाल दल इस आदर्श के अनुसार जीवन व्यतीत कर चुका है; वे ऐन्द्रिय संसार के साथ के सभी प्रकार के सम्बन्धों की दृढ़ता से निन्दा करते रहे हैं, और सांसारिक जीवन को प्रबलता से अस्वीकार करते रहे हैं। भारत के प्राचीन ऋषि संसार-त्याग को केवल एक कारण मानते थे, उद्देश्य नहीं। संसार की प्रबल स्वीकृति तथा संसार के दृढ़ त्याग—इन दोनों के बीच की संतुलित संगति पर देश के मानवतावादी विचारकों ने बल दिया था। रवीन्द्रनाथ टैगोर मानवतावादी विचारधारा के प्रतिनिधि हैं। हिन्दूधर्म की विचारधारा से रवीन्द्रनाथ की विचारधारा भिन्न है—इस धारणा का कारण यह है कि हिन्दूधर्म को उस अद्वैत वेदान्त के विशेष रूपों में से अभिन्न मान लिया गया है जो इतिहास की आकस्मिक घटनाओं के कारण संसार का प्रतिवाद करनेवाला सिद्धान्त बन गया। रवीन्द्रनाथ का धर्म उपनिषदों, भगवद्गीता और पीछे बने आस्तिक दर्शनों के प्राचीन ज्ञानियों के धर्म के समान है।

: ३ :

काव्य तथा दर्शन

उसने कविता के संबंध में कहा—और कितनी दिव्य थी वह, —एक प्रकाश, एक प्रेम—एक आत्मा, जो वायु की तरह बदलती है, जैसे भी वह चाहती है, चाहे इधर, चाहे उधर। एक ओस, जो ऊपर से परमात्मा के देश से बरसी है; एक शक्ति, जो स्वप्न की तरह आती है और जाती है और जिसका कभी भी कोई भी पता नहीं लगा सकता, वह है पृथ्वी पर स्वर्ग का प्रकाश, सत्य की उज्ज्वलतम किरण!

—शेली

मनुष्य-जाति को अधिकाधिक यह पता चलेगा कि हमें, जीवन की व्याख्या के लिए और अपनेको सांत्वना देने के लिए, अपनेको जीवित रखने के लिए, कविता की ओर मुड़ना पड़ेगा। कविता के बिना हमारा विज्ञान अपूर्ण प्रतीत होगा और जिसे हम आजकल धर्म और दर्शन समझ रहे हैं, उसमें से बहुत-कुछ का स्थान कविता ग्रहण करेगी... एक दिन आयेगा जब हमें अपने पर आश्चर्य होगा कि हम उनपर विश्वास करते रहे और उनको गम्भीरता से ग्रहण करते रहे, और जितना अधिक हम उनके खोखलेपन को जान लेंगे, उतना ही अधिक हम कविता द्वारा प्रदान किये हुए 'ज्ञान के श्वासोच्छ्वास और उसकी अधिक परिष्कृत तथा उत्कृष्ट आत्मा' का मूल्य समझेंगे।

—मैथ्यू आर्नल्ड

(१)

प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड में हम कह चुके हैं कि रवीन्द्रनाथ तात्त्विक दृष्टि से कवि हैं, और दार्शनिक नहीं, यद्यपि हमारे लिए उनके काव्य से उनके दार्शनिक विचारों को एकत्र कर लेना संभव है। ऐसे भी आलोचक हैं, जिनका मत है कि रवीन्द्रनाथ की कविता प्रथम श्रेणी की नहीं है, क्योंकि यह आध्यात्मिक विद्या और रहस्यवाद से भरी हुई है। रवीन्द्रनाथ की दार्शनिक शिक्षा से संबंधित प्रथम दो

अध्याय इस विचारधारा को पुष्ट ही करते हैं और रवीन्द्रनाथ की कविता की महत्ता के संबंध में पाठक के दिल में सच्चा संशय पैदा हो जाता है। कविता के परम्परागत रूप में परिवर्तन से कठिनाई और भी अधिक बढ़ गई है और इसने संशय को और भी गुरुता प्रदान करने में सहायता की है, जिससे संशय प्राय: निश्चय में बदल गया है। यहां हम यह विचार करेंगे कि यह आलोचना किस मात्रा में न्यायसगंत है, और प्रसंगत: काव्य और दर्शन के पारस्परिक संबंध के विषय में रवीन्द्रनाथ के विचारों का अवलोकन करेंगे और इसी प्रकार से दूसरे विषयों पर विचार करेंगे।

(२)

प्रारम्भ में जिस समस्या का समाधान करना है, उसका संबंध कला, विशेषत: काव्यकला के उद्देश्य से है। 'दि साइकल ऑव स्प्रिंग' में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है, "हम (कवि) मनुष्यों को उनकी इच्छाओं से मुक्त करते हैं।"[१] इन शब्दों में उन्होंने स्वतंत्रता के मार्ग के रूप में कला के ठीक कार्य की ओर संकेत किया है। कलाकार हमें संसार के बंधनों को भुलाने में सहायता देता है, और हमारे लिए उन अदृष्ट संबंधों को प्रकट करता है, जिनके द्वारा हम अनन्तता से बंधे हुए हैं। सच्ची कला जीवन की मात्र यांत्रिकता से हमारे विचारों को हटाती है, और हमारी आत्मा को उसकी तुच्छता से ऊपर उठाती है। यह आत्मा को संसार की अशान्त करनेवाली क्रियाओं से मुक्त करती है और हमें, 'हमारे कोलाहलपूर्ण रुग्ण-प्रकोष्ठ से' बाहर निकालती है। यह रूढ़ संसर्गों और एक ढर्रे के विचारों के जाल से हमारे मन को मुक्त करती है। सारी कला का रहस्य आत्म-विस्मरण है। कवि या कलाकार हमारे अन्दर विद्यमान कवि या कलाकार को मुक्त कर देता है। और यह वह तभी कर सकता है, जब उसकी कला-कृति की उत्पत्ति आत्मविस्मरण के आनन्द से उद्भूत हुई हो। वह अन्य सभी पदार्थों से मुंह मोड़ लेता है और जिस विशेष विषय की वह व्याख्या करना चाहता है, उसीसे अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है, उसी

[१] दि साइकल ऑव स्प्रिंग, पृष्ठ १८

में अपनी चेतना को लीन कर देता है और अपनेको डुबो देता है। वह उस पदार्थ को पुकारता है, जिसके सौंदर्य को वह प्रकट करना चाहता है।

मेरी आत्मा ! हे उग्र आत्मा, भले ही तू प्रचण्ड हो, किन्तु तू मेरा स्वरूप बन जा ! [१]

जब आत्मा की इस प्रकार की विस्मरण की अवस्था होती है, और उसका अनात्म से तादात्म्य होता है, जब कलाकार का आन्तरिक जीवन उसके बाह्य जीवन से अभिन्न हो जाता है, तभी कला का जन्म होता है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि कला आनन्द से उत्पन्न हुई है और वह स्वयं आनन्द को उत्पन्न करती है। जब हम कहते हैं कि कला का कार्य या उद्देश्य मनोरंजन करना है, तब यह नहीं समझा जाना चाहिए कि कलाकार या स्रष्टा आनन्द देने के सजग प्रयोजन से कला का निर्माण प्रारम्भ करता है, और न यह समझना चाहिए कि सामाजिक रसज्ञ आनन्द लेने का, जानबूझकर, कोई उपाय करता है। कलात्मक सर्जना और मनोरंजन, दोनों स्वत:प्रवर्तित और अज्ञात रूप से अनुभूत होते हैं। कलाकार श्रोताओंको प्रसन्न करने या संसार को आनन्दित करने की किसी विशेष प्रेरणा से अपनी कृति की रचना नहीं करता। कलाकार की गम्भीर आत्मानुभूति ही कला-कृति का बाह्य रूप धारण कर लेती है। जब हृदय उस आत्मानुभूति से अभिभूत हो जाता है तो वाणी मुखर हो उठती है। विलियम ब्लैक ने कहा है—"अतिरेक के मार्ग पर चलकर ही बुद्धिमत्ता के प्रासाद तक पहुंचा सकता है।" रवीन्द्रनाथ के अनुसार कला का उद्गम, 'अतिरिक्त के प्रदेश में'[२] होता है। अतिरिक्त शक्ति कला द्वारा अपने निकास का प्रयत्न करती है। कला आनन्द की पुत्री है। खेल में मनुष्य की अतिरिक्त शक्तियों की अभिव्यक्ति होती है। जब मनुष्य को किसी उद्देश्य को प्राप्त करना होता है, तो वह अपनी वाणी का प्रयोग करता है; किन्तु जब उसका इस प्रकार का कोई उद्देश्य नहीं होता, तो वह गाता है। वह अपने पैरों से चलता

[१] शेली

[२] पर्सनेलिटी, पृष्ठ १०

है, जब उसका कहीं पहुंचने का उद्देश्य होता है। किन्तु जब उसका ऐसा कोई उद्देश्य नहीं होता, तो वह नाचता है। मनुष्य अपने हाथ से लिखता है, और इससे कार्य भी करता है, जब उसे कोई उद्देश्य पूरा करना होता है। किन्तु जब उसका ऐसा कोई उद्देश्य नहीं होता, तो वह उससे चित्र बनाता है। किन्तु यदि हमारा सारा समय और हमारी सारी शक्तियां युद्ध और व्यापार में, विज्ञान और उद्योग में समाप्त हो जाती हैं, तो हम अपने बहुमूल्य समय और शक्तियों को चित्रकारी और मूर्ति-शिल्प में, संगीत और नृत्य में नहीं लगा सकते ! उस समय हमारे समाज में उन अकर्मण्यों—कलाकारों—के लिए कोई स्थान नहीं होता। किन्तु कला अकर्मण्यता से उत्पन्न हुई है, कार्य-तत्परता से नहीं। कला में हम अपनी भौतिक या बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत्न नहीं करते। हम केवल अनुभव करते हैं और आनन्द उठाते हैं, किन्तु हम विश्लेषण या नाप-तौल नहीं करते। उन तथ्यों की पुनरावृत्ति, जो उपयोग में लाये जा सकते हैं या जिनका लाभ उठाया जा सकता है, जैसे "सूर्य गोल है, जल द्रव है, अग्नि उष्ण है—असह्य होगी। किन्तु सूर्योदय के सौन्दर्य के उस वर्णन की शाश्वत दिलचस्पी" बनी रहेगी, जिसका कोई भी आर्थिक या उपयोगितावादी मूल्य नहीं...."क्योंकि वहां सूर्योदय का तथ्य नहीं, किन्तु उसका हमसे सम्बन्ध शाश्वत दिलचस्पी का विषय है।"[१] कला का विषय व्यक्तित्व का संसार है। कला व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। किन्तु यह युक्ति दी जा सकती है कि सारी क्रिया आत्माभिव्यक्ति है; और इसलिए यह कहने में, कि कला आत्माभिव्यक्ति है, कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कला के अतिरिक्त प्रत्येक दूसरे क्षेत्र में क्रियाशीलता किसी-न-किसी चीज का साधन होती है, जबकि सौन्दर्य में हमारा कोई गूढ़ उद्देश्य नहीं होता।

हम किसी चीज को इसलिए जानना चाहते हैं कि उसे उपयोग में ला सकें। कला में आत्माभिव्यक्ति का कोई दूसरा उद्देश्य नहीं होता। यह अपना उद्देश्य अपने-आप है। आत्माभिव्यक्ति हुआ करती

---

[१] पर्सनेलिटी, पृष्ठ १५

है, क्योंकि यह बिना हुए नहीं रह सकती। इसे किन्हीं भौतिक या आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा नहीं करना होता। "जब हमारा हृदय प्रेम में या दूसरे तीव्र मनोभावों में जाग्रत होता है, तो हमारे व्यक्तित्व में बाढ़ और ज्वार-भाटा आ जाता है।"[1] कविता कार्य नहीं है, किन्तु जैसा कि ब्राउनिंग ने कहा है, यह आस्फोट या विस्फोटक है। क्योंकि कला आत्म-विस्मरण के आनन्द से उत्पन्न होती है, इसलिए यह आनन्दित करने या आनन्द को उत्पन्न करने के उद्देश्य को पूरा करती है, और इस प्रकार आत्मा को उसकी जंजीरों से मुक्त होने और अपने-आपसे तथा संसार से शान्ति प्राप्त करने के लिए सहायता प्रदान करती है। यह हमें उठाकर उस उच्च मनोदशा में ले जाती है, जिसमें प्रत्येक वास्तविक चीज व्यावहारिक रूप में कुछ भी नहीं रहती। यह आत्मा को इसके अपने स्वाभाविक घर में प्रविष्ट कराने में और स्वतन्त्रता तथा सौन्दर्य के ऐसे राज्य की नागरिकता के दावे को पूरा कराने में सहायता करती है, जिस राज्य में सभी सर्व-सत्ताधारी होते हैं और कोई भी प्रजा नहीं होता। साथ में यह उच्चतर जीवन को भी प्रभावित करती है, जिसका यह अंश है, क्योंकि यह अनन्त को सामान्य जीवन में ले जाती है। इस प्रकार यह जीवन को आभूषित करती है और सत्ता को आनन्दित बनाती है।

कला उपदेशात्मक नहीं होती। इसका कार्य आनन्दित करना है, उपदेश या शिक्षा देना नहीं। यह हमें उच्च उद्देश्यों के लिए अज्ञात रूप से उत्साहित किया करती है और शिक्षाएं नहीं दिया करती। दर्शन तर्क-वितर्क कर सकता है और शिक्षा दे सकता है, धर्म उपदेश दे सकता है और आदेश दे सकता है; किन्तु कला केवल आनन्द देती है और प्रसन्न करती है। शिक्षा और आत्मोन्नति कला के परिणाम हो सकते हैं, किन्तु इसका उद्देश्य आनन्दित करना मात्र है। जबकि यह अपने प्रकाश से चमकती है, उस समय यह प्रकाश दूसरे को प्रभावित कर सकता है। कविता क्योंकि कला की ही उपजाति है, इसलिए इसका उद्देश्य प्रसन्नता प्रदान करना है, न कि लाभ पहुंचाना।

---

[1] पर्सनेलिटी, पृष्ठ १७

कला के उद्देश्य के इस विचार से भारतीय विचारधारा की कोई सहानुभूति नहीं है—लोगों की यह सामान्य धारणा मिथ्या है। "भारत के प्राचीन काव्यशास्त्रज्ञों ने निःसंकोच कहा है कि आनन्दानुभूति साहित्य की आत्मा है—ऐसी आनन्दानुभूति, जो अनासक्त हो।"[1] कला का उद्देश्य—आनन्द, जब उस सुख से अभिन्न समझ लिया जाता है, जिसकी सुखवाद के स्थूल अर्थ में व्याख्या की जाती है, तो भारतीय विचारधारा इसके प्रति विरोध प्रकट करती है। जब कला हमारी उत्तेजना की अनुभूति की सनक के लिए आयोजन करती है, तो इसकी आलोचना की जाती है और इसे दूषित ठहराया जाता है। भारतीय कला में संसार-त्याग की व्यंजना उसके आध्यात्मिक उद्देश्य के विरुद्ध विद्रोह की अभिव्यक्ति नहीं, किन्तु उस सुखवादी रुख के प्रति विद्रोह की अभिव्यक्ति है, जिसने उसके उद्देश्य को अधःपतित कर दिया है। सौन्दर्यमयी भावना आध्यात्मिक अनुभव है केवल व्यक्तिगत अनुभव नहीं। जब कला आध्यात्मिक स्वतंत्रता की प्राप्ति का साधन नहीं रहती, और केवल मनोरंजन का कारण बन जाती है, तब वह कला के अपने सच्चे स्वरूप से वंचित हो जाती है।

(३)

कला की उपजाति के रूप में यद्यपि काव्य का उद्देश्य हमें दर्शन से परिचित कराना नहीं है, तो भी यह तबतक अपना प्रयोजन पूरा नहीं कर पाता, जबतक इसमें दार्शनिकता की दृष्टि समाहित नहीं हो। यदि काव्य के द्वारा अनन्त सत्ता की अभिव्यक्ति नहीं होती, तो यह हमें कभी आनन्द प्रदान नहीं कर सकता। हीगल के शब्दों में काव्य का उद्देश्य—"कल्पना के सम्मुख सुसंगत संसार के अंतिम आदर्श के स्वरूप को प्रस्तुत करना है।" अरस्तू ने कहा था कि "काव्य संपूर्ण साहित्य में सबसे अधिक दार्शनिकता लिये होता है, क्योंकि उसका उद्देश्य सत्य है।" सच्चा कवि वह है, जो प्रत्येक अंश में संपूर्ण को देखता है और काव्य के द्वारा संपूर्ण दृष्टि की अभिव्यक्ति करता है। "काव्य का मुख्य उद्देश्य केवल मनोरंजन करना, या मनुष्य-जाति के अच्छे-बुरे

[1] पर्सनेलिटी, पृष्ठ ८

अनुभवों को केवल अभिव्यक्त करना, या मानव-प्रकृति के और मानव-जीवन के हमारे ज्ञान को केवल बढ़ाना नहीं है। किन्तु यदि काव्य का यह उद्देश्य है, तो इसका अत्युच्च उद्देश्य आदर्श सत्य का उद्घाटन भी है, अर्थात् उस संसार का उद्घाटन, जिस संसार की यह संसार केवल छाया है या भद्दी नकल है; अर्थात् उस अनन्त, अपरिवर्तनशील तथा विशिष्ट सत्ता का उद्घाटन, जो पृथ्वी के जड़ पदार्थ तथा समय के साम्राज्य की अतात्त्विक और अनश्वर घटनाओं का आधार है।"[1] कोई विशेष कृति काव्य है या नहीं—इस बात को परखने में हमारी सहायता देनेवाली कसौटियों में एक सुनिश्चित कसौटी यह है कि वह हमें दृष्टि की संपूर्णता प्रदान करती है या उसमें संपूर्ण सत्ता के केवल बाह्य रूप ही प्रकट होते हैं। इसलिए, दर्शन और काव्य को परस्पर-विरोधी बतलाने के स्थान पर हमें यह कहना चाहिए कि काव्य तभी काव्य हो सकता है, जब वह यहां बतलाये हुए अर्थ में तात्त्विक रूप से दार्शनिक हो।

जो मन शान्त है, जो आत्मा शान्त है, केवल वही अच्छी काव्य-रचना करने में समर्थ है। एक क्षुब्ध आत्मा या एक चिन्तित मन उच्च काव्य प्रदान नहीं कर सकता। जीवन की लय ही अपनेको काव्य की लय में प्रकट करती है। हृदय में माधुर्य होगा, तभी जिह्वा में स्वर का माधुर्य होगा। आत्मा को समस्वरता तभी प्राप्त होती है, जब मन संशयशील नहीं होता। तभी आत्मा एक प्रकार की निष्क्रियता में मग्न होती है, सृष्टि की स्वतःप्रवृत्ति के लिए अपनेको समर्पित करती है, और उसमें अपने आनन्द को अनुभव करती है। मानवीय आत्मा काव्य के परमोल्लास तक तभी ऊंची उठ सकती है, जब वह अपने से बाहर की वस्तुओं की आत्मा से समस्वरता स्थापित कर लेती है। "उस संसार को जिसकी आत्मा रेखाओं तथा रंगों, संगीत तथा गतियों, संकेतों तथा कानाफूसियों, और अनिर्वचनीयता की सारी व्यंजनाओं की अन्तहीन लय में अभिव्यक्ति के लिए तड़पती प्रतीत होती है, उसकी अपनी रचनाओं में उसे व्यक्ति की अभिव्यक्ति के लिए

---

[1] चर्टन कौलिन्स, 'दि ट्रू फंक्शन ऑव द पोएट्री'

मानवीय हृदय की अपरिसमाप्त अभिलाषा के रूप में अपनी संगति अनुभव होती है।"[१] काव्य मानव-हृदय में विश्व के सुरीलेपन की गूंज है। जिस आत्मा को विश्व से शान्ति नहीं मिलती, जो यह सोचती है कि संसार नष्ट होने के लिए छोड़ दिया गया है, क्योंकि परमात्मा स्वर्ग में ही रहता है, वह महान् कवि नहीं बन सकती। जो निराशावादी व्यक्ति उच्च तथा निम्न सत्ताओं के बीच अपरिहार्य व्यवधान को अनुभव करता है, जो लोकोत्तरतावादी व्यक्ति आदर्श को संसार की प्रक्रिया तथा समय से परे समझता है, और जो संसार का प्रतिवाद करनेवाला संन्यासी इस जीवन से उड़कर शून्यता में लीन होना चाहता है—ये सभी महान् कवि नहीं बन सकते, क्योंकि उनका संसार से विरोध है। 'निराशावादी काव्य' यह शब्द अपने-आपमें विरोधी है; क्योंकि जिस व्यक्ति के लिए इस संसार में कुछ भी सारभूत नहीं है, वह कवि नहीं बन सकता। सच्चे कवि को या तो संसार में आनन्द उपलब्ध होता है, या उसे आनन्द होता ही नहीं। रवीन्द्रनाथ ने इन शब्दों में संसार की आत्मा से कलाकार की आत्मा के संबंध का वर्णन किया है, "संसार आन्तरिक व्यक्ति से पूछता है—'हे मित्र! क्या तुमने मुझे देख लिया है? क्या तुम मुझे प्यार करते हो?—उस सत्ता के रूप में नहीं, जो तुम्हारे लिए फलों तथा भोजनों की व्यवस्था करती है; उस सत्ता के रूप में नहीं, जिसके नियमों की तुमने खोज कर ली है, बल्कि उस सत्ता के रूप में जो निजी है, वैयक्तिक है?' कलाकार उत्तर देता है, 'हां, मैंने तुम्हें देख लिया है, मैंने तुम्हें प्यार किया है और तुम्हें जान लिया है,—इसलिए नहीं कि मुझे तुम्हारी आवश्यकता है, इसलिए भी नहीं कि मैंने तुम्हारा आश्रय लिया है और शक्ति के अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तुम्हारे नियमों का उपयोग किया है। मैं उस सामर्थ्य को जानता और पहचानता हूं जो कार्य करती हैं, आगे बढ़ती है और शक्ति की ओर ले जाती है, किन्तु यह बात नहीं है। मैं तुम्हें देखता हूं, और यह भी जानता हूं कि तुम कहां स्थित हो और मेरी क्या स्थिति है?"[२] क्योंकि विश्व के लिए नि:स्वार्थ प्रेम

[१] पर्सनेलिटी, पृष्ठ ३२-३३

[२] पर्सनेलिटी, पृष्ठ २२

अपनी ही आत्मा का उद्घाटन है, इसलिए यह प्रेम ही संसार के प्रति कलाकार की सच्ची मनोवृत्ति है। आत्मा को संसार के साथ अपनेपन का भाव होना चाहिए और इससे किसी प्रकार का अपरिचय—परायापन, नहीं अनुभव करना चाहिए। उसे इस रूप में चिल्ला पड़ना चाहिए, "क्या यह पृथ्वी भी उसकी नहीं, जिसने स्वर्ग बनाया है?"[1] सच्चे कवि को ध्वनियों के व्यतिक्रम में—जिसे प्रकृति कहते हैं—समस्वरता सुनाई पड़ती है, वह बुराई के हृदय में भलाई अनुभव करता है, और समय में शाश्वतता को देखता है। आत्मा के विघ्न और संसार के विरोध उसे यह सोचने के लिए प्रेरित नहीं करते हैं कि परमात्मा या तो अस्तित्वशून्य है, या यदि है, तो वह पागल हो गया है; बल्कि ये उसके संसार-सम्बन्धी दृष्टिकोण को दृढ़ता प्रदान करते हैं। निश्चय ही वह कुरूपता तथा बुराई को पीड़ा-स्वरूप समझेगा। "जब उन्होंने तुझ पर प्रहार किया तो तुझे पीड़ा हुई, इसने मुझे पूर्णतया छेद दिया।"[2]

जैसे समस्त सच्चे दर्शन में, वैसे ही समस्त सच्चे काव्य में, उद्देश्य का सामंजस्य होना चाहिए। कवि संसार के दुःखद विरोधों के वर्णन में अपनी कला का प्रदर्शन कर सकता है, किन्तु उसे यह विश्वास है कि इस सबका उद्देश्य शांति और समाधान है, न कि असंगति या निराशा। इससे यह अभिप्राय नहीं कि पांचवें अंक का पांचवां दृश्य विवाह या आशीर्वाद का होना चाहिए। इसका यह भी अभिप्राय नहीं कि उसे संसार को विरोधों और संघर्षों से शून्य स्वर्ग समझना चाहिए। कवि को संसार का, इसकी कुरूपता, पीड़ा और संत्रास तथा अपूर्णता के साथ, सामना करना चाहिए; किन्तु अन्त में हमें यह अनुभव करना चाहिए कि जिस संसार में हम रहते हैं, वह काफी अच्छा है। वह आत्मा के उपद्रव का भी वर्णन कर सकता है, किन्तु उसका केवल यही परिणाम निकलना चाहिए कि इस संसार के अन्दर सुव्यवस्थित शांति है। उन महान् दुःखान्त रचनाओं के परिणाम बड़े शुद्ध तथा ऊंचे उठानेवाले होते हैं,

---

[1] फ्रूट गैदरिंग, ५५

[2] फ्रूट गैदरिंग, ५५

जो आत्मा के कष्टों का तथा उसके प्रलापों का वर्णन करती हैं। जो दु:खान्त रचना हमारे हृदय में निराशा और असंतोष की छाप लगा देती है, वह कला की कृति के रूप में असफल होती है। सच्ची कला में अन्तिम अनुभूति विजयोल्लास और सन्तोष की होनी चाहिए। दु:खान्त रचना विशिष्ट सत्ता में सार्वभौम सत्ता के नियम का निदर्शन है और व्यक्तियों के कष्टों में संपूर्ण सत्ता की अनुभूति का प्रदर्शन है। किसी दूसरे मार्ग को अपनाने का अर्थ होगा, तार्किकता और विश्व के सौन्दर्य को तिलांजलि देना। उद्देश्य का विरोध केवल उन आंशिक दृष्टि-कोणों के कारण ही सत्य प्रतीत हो सकता है, जो दृष्टिकोण विज्ञान और गद्य के ही एकाधिकार होते हैं। उनके लिए संसार प्रश्न प्रतीत हो सकता है, किन्तु दार्शनिक तथा कवि के लिए नहीं। उनका काम यह दिखाना है कि विरोध तथा अव्यवस्था अंतिम बातें नहीं हैं। वे पृथ्वी की टूटी हुई चापों का पूरा चक्र बनाते हैं। दार्शनिक यह तर्क करता है कि सारी असंगति अपरिज्ञात संगति है, कवि हमें बुरी चीजों में भलाई की आत्मा के दर्शन कराता है। संसार की शाश्वत समस्वरता हमें कवि के गीतों में सुनायी पड़ती है। "मेरे कवि, अपनी रचना को मेरी आंखों से देखना और अपनी ही शाश्वत समस्वरता को ध्यानपूर्वक सुनने के लिए चुपचाप मेरे कानों के प्रवेश-द्वारों पर खड़े होना, क्या यह तेरा आनन्द है?"[१]

(४)

इस मत को समझ लेने पर काव्य का प्रकृतिवादी विचार दूषित ठहरता है। जैसे कला प्रकृति से भिन्न है, इसी तरह प्रकृतिवादी काव्य सच्चे काव्य से भिन्न है। पहले प्रकार के काव्य को निरीक्षण की अधिक आवश्यकता होती है, जबकि दूसरे प्रकार के काव्य को निरीक्षण किये हुए भौतिक जगत् के संबंध में चिन्तन की आवश्यकता होती है। दर्शन सामान्य बुद्धि नहीं, वरन् उसकी आलोचना है; इसी तरह काव्य जीवन नहीं, वरन् उसकी आलोचना है। जैसे दर्शन तथ्यों का विवरण मात्र नहीं, वह उन्हें नियमित और व्यवस्थित भी करता है, वैसे ही

---

[१] गीतांजलि, ६५

काव्य तथ्यों की नकल ही नहीं; वह उनकी व्याख्या भी करता है। तथ्यों के गम्भीर अभिप्राय का उद्घाटन करके दर्शन उनके बाह्य रूपों की आलोचना करता है, और कवि तथ्यों की बाह्य आकृति के मुकाबले में उनके आन्तरिक आध्यात्मिक सौन्दर्य को प्रकट करता है। आदर्शवादियों की परम्परा के अनुसार दर्शन अनुभव का निर्माण है। संसार के जिन सन्निकट तथा प्रत्यक्ष तथ्यों से दार्शनिक जिज्ञासा प्रारम्भ होती है, उन्हें वहां समन्वित किया जाता है, जहां उनकी सन्निकटता तथा बाह्यता खण्डित होती हैं। इसी तरह कवि-कल्पना संसार के तथ्यों से खेल खेलती है और उनके द्वारा सम्पूर्ण सत्ता की आत्मा को प्रकट करवाती है। काव्य जीवन और प्रकृति की कल्पना-शून्य नक़ल नहीं है। कवि का उद्देश्य वस्तुओं में जीवन को और प्रकृति में आत्मा को उद्घाटित करना है। दार्शनिक हमें बतलाता है कि यांत्रिकता विश्व का अन्तिम रूप नहीं है, जबकि कवि उन चीजों में भी जीवन अनुभव करता है, जो मृत समझी जाती हैं। क्योंकि जिस तरह सच्चाई की तथ्य से केवल-मात्र अनुरूपता नहीं है, उसी तरह काव्य भी प्रकृति के तथ्यों की केवल-मात्र अनुकृति या मन का प्रवाह नहीं है। दोनों ही सर्जनात्मक पुनर्निर्माण हैं, दोनों ही जीवन के दर्पण हैं। उस जीवन के नहीं जो बाह्य है, वरन् उस जीवन के जो गंभीरतम है और जो जीवन का सर्वोत्तम रूप है। यदि काव्य उन बातों को हूबहू रूप में प्रकट करने में है जिनका हम हृदय की धड़कन के बिना अनुभव करते हैं, जैसा कि हमारे वर्तमान कुछ कवि करते हैं जब वे मिट्टी के तेल के कनस्तर और तार-व्यवस्था के बारे में गाते हैं, तो यह सच्ची कविता नहीं होती। कीट्स के अनुसार सौन्दर्य सत्य है, प्रकृतिवाद नहीं। कविता निर्माण है नकल नहीं; यह दिव्य दर्शन है, प्रतिलिपि नहीं; यह चित्र है, फोटोग्राफ नहीं। भारतीय विचारधारा आत्मा से विरहित प्रकृति के प्रति उदासीन है। इस प्रकार की प्रकृति मायिक घटना है। यह उस रूप में वास्तविक है, जिसमें यह दैवी तत्त्व या आत्मा का उद्घाटन करती है। कला मानव-मन का वह प्रयत्न है, जो प्रकृति के तथ्यों के आध्यात्मिक अभिप्राय और आन्तरिक सौन्दर्य को ग्रहण करता है। संसार की वस्तुएं अपने-आपमें सुन्दर नहीं हैं, किन्तु ऊपर बतायी हुई बातों की व्यंजना

करने के कारण सुन्दर हैं। किन्तु जब काव्य चीजों का यथातथ्य चित्रण करने का प्रयत्न करता है तो वह काव्य नहीं रहता, तब वह गद्य, विज्ञान या कोई दूसरी चीज बन जाता है। काव्य बाह्य स्वरूप को महत्त्व देने की अपेक्षा अनुप्राणित करनेवाली आन्तरिक आत्मा को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। सच्चे काव्य का मूल तत्त्व प्रकृति के प्रति निष्ठा नहीं, वरन् उसकी आत्मा के प्रति निष्ठा है।

जबकि यह कहना ठीक है कि काव्य भावाभिव्यक्तिपरक तो हो, परन्तु इसे निजी या वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यक्ति नहीं होना चाहिए। इसे सार्वभौम मस्तिष्क या सामान्य संकल्प-शक्ति का कथन होना चाहिए। इसे उस अनुभूति की अभिव्यक्ति करनी चाहिए जो चिन्तन के आलोक से आलोकित हो। जिस तरह से प्रत्येक प्राकृतिक तथ्य हमारे सन्मुख उसके आदर्श उद्देश्य के प्रकाश में प्रस्तुत किया जाता है, उसी तरह प्रत्येक आत्मगत भावना कवि के सम्पूर्ण अनुभव के निदर्शन के रूप में प्रकट की जानी चाहिए। काव्य में कवि का कोई विशिष्ट मनोभाव मात्र ही प्रकट नहीं होता, वरन् उसकी समस्त अनुभूति प्रकट होती है। प्रत्येक अनुभूति को कवि के उस पूर्ण दिव्य दर्शन के अंग के रूप में प्रकट किया जाता है, जो कवि की कृति की अन्तःप्रेरणा होता है। रवीन्द्रनाथ ने लिखा है : "काव्य मात्र भावना या अभिव्यक्ति नहीं, यह तो रूप की रचना है। कवि के अन्दर छिपे सूक्ष्म क्रियात्मक कौशल के कारण विचार आकार ग्रहण करते हैं। यह सर्जनात्मक शक्ति काव्य का उद्‌गम है। इन्द्रियानुभूतियां, भावनाएं और भाषा तो इसकी केवल उपादान कारण हैं।"[१] सच्ची कविता संवेग और चिन्तन का मिश्रण है। केवल अनुभूति या संवेग की कोई वाणी या उक्ति नहीं हो सकती। यह तो वाणीरहित होगी, जिस तरह से दर्शन में आत्म-निष्ठावाद (सब्जेक्टिविज़्म) है। विचार द्वारा भावना के संयम के अभाव में स्पष्ट अनुभूति नहीं हो सकती और इसलिए कविता भी नहीं बन सकती।" सौन्दर्य की सृष्टि असंयत कल्पना का काम नहीं। जब भावावेश को पूरी शक्ति प्राप्त हो जाती है तो वह अनियंत्रित अग्नि की तरह

---

[१] लेटर्स, 'मॉडर्न रिव्यू' अगस्त १९१७

नाशक शक्ति बन जाता है ।"[1] वर्ड्सवर्थ का भी यही अभिप्राय है, जब वह कहता है कि "कविता वह संवेग है, जिसका स्मरण या अनुस्मरण प्रशान्ति के क्षणों में किया जाता है ।" कभी-कभी काव्य की वेशभूषा की सरलता हमारे अन्दर यह भ्रान्त धारणा उत्पन्न कर देती है कि काव्य ऊपरी अनुभूति की अभिव्यक्ति है, किन्तु स्वाभाविकता और सरलता प्रशिक्षण और अन्तर्निहित विचार के प्रतिकूल अनुपात में होते हैं । "वह प्रशिक्षण बहुत अधिक जटिल है, जो हमें स्वर-संगति की पूर्ण सरलता की ओर ले जाता है ।"[2] काव्य हमारी शक्तियों के विश्राम या अवरोध के लिए नहीं है । इसमें कठोर परिश्रम और आलोचनात्मक चिन्तन अन्तर्निहित होता है । जब मनुष्य की शक्तियां उच्चतम स्थिति में होती हैं, तो अनुभव होता है मानो वे निम्नतम स्थिति में हैं । यह उस दृष्टि की भ्रान्ति के सदृश है, जिसमें गति और गति-शून्यता दोनों एक मालूम होते हैं । कलाकार सामान्य लोगों की अपेक्षा अधिक तीव्र जीवन व्यतीत करता है, क्योंकि केवल तीव्रता से ही अन्तर्दृष्टि पैदा होती है ।

लोकोत्तरता का जो मत पद्य को गद्य से भिन्न मानता है, वह उन आदर्शों को काव्य का विषय मानता है, जीवन में जिनकी कोई वस्तु-स्थिति नहीं है । यह मत प्रकृतिवादी मत का सर्वथा विरोधी है और समान रूप से अमूर्त और अवास्तविक है । शास्त्रीय कवि, जो प्राचीन "वस्त्रों की बाधाओं से रहित तैराक के रूप में अधिक आसानी से पानी को चीरता चला जाता है," वह स्वप्नलोक या परीलोक की रचना करता है, जिसमें जीवन के अन्दर आवश्यक रूप से विद्यमान कष्ट और पीड़ा की उपेक्षा की गई है । ऐसा कवि यथार्थवादी कवि के सर्वथा विपरीत है, जो संसार का उस रूप में चित्र बनाता है, जिस रूप में वह नयन-पटल को प्रभावित करता है और है, उस रूप में हमें संसार का हूबहू चित्र प्रदान करता है जो उसका बाह्य रूप है । यह कथन कि काव्य जीवन से असंबद्ध है, उसी प्रकार असत्य है जैसे

---

[1] 'मॉडर्न रिव्यू' सितम्बर १९११, पृष्ठ २२६

[2] गीतांजलि, १२

यह कहना कि काव्य जीवन की केवल प्रतिलिपि मात्र है । कवि के लिए पृथ्वी उसका घर है और स्वर्ग उसकी आशा। एक सच्चा दर्शन हमें यह बतलाता है कि यथार्थ तथा आदर्श, प्रकृति तथा कला, जीवन तथा आलोचना और निरीक्षण तथा चिन्तन––इन सबके बीच भेद आपेक्षिक है। किन्तु ये दोनों परस्पर-विरोधी हो जाते हैं, जब हम चीजों के बाह्य रूपों, जो प्राकृतिक कहलाते हैं, और उनके आन्तरिक गुप्त रूप, जो बाह्य सतह के अन्दर व्याप्त होते हैं तथा जिन्हें हम दार्शनिक कहते हैं––इन दोनों प्रकार के रूपों के बीच भेद की सुनिश्चित रेखा खींचते हैं। किन्तु कला केवल प्रकृति है, जिसका गहराई से अनुभव और चिन्तन किया गया है। "कला स्वयं में प्रकृति है।"[1]

काव्य के प्रकृतिवादी और लोकोत्तरतावादी दृष्टिकोण, दर्शन के प्रकृतिवादी यथार्थवाद और लोकोत्तरवादी आदर्शवाद इन दो चरम विरोधी मतों के अनुरूप हैं। काव्य के इन दोनों दृष्टिकोणों के अनुसार काव्य के विषय बाह्य तथ्य या अमूर्त आदर्श होने चाहिए। आचार-शास्त्र में इन दोनों के प्रतिरूप उपयोगितावादी अर्थ में सुखवाद और संसार के प्रति निःस्पृहता के अर्थ में बुद्धिवाद है। सब एकपक्षीय हैं। सच्चा दर्शन हमें सिखलाता है कि सम्पूर्ण में वे आदर्श सम्मिलित हैं जो यथार्थ सत्ताओं में व्याप्त हैं। यथार्थ बुद्धिसंगत है। दोनों के अन्दर सम्बन्ध-विच्छेद अवास्तविक और तथ्य के विरुद्ध है। काव्य में वास्तविक अनुभव के तत्त्व सम्मिलित होने चाहिए। किन्तु उन्हें सच्चे आदर्श की दृष्टि से प्रयोग में लाना चाहिए। इसमें हम यह मान लेते हैं कि प्रकृति और मनुष्य का अंतिम सत्य एक ही है और यही सन्तुलित दर्शन का परिणाम है। भारत के प्राचीन उपनिषद् ही नहीं, बल्कि आधुनिक आलोचनात्मक आदर्शवाद के नवीनतम दर्शन भी यही कहते हैं कि जो सिद्धान्त मनुष्य के आदर्श के रूप में मानवीय कल्पना में काम करता है, और जिस उद्देश्य के प्रति प्रकृति अपने अन्तर्निहित विचार की शक्ति से संचालित होती है, वे दोनों एकरूप हैं। कारलाइल के द्वारा अनूदित गेटे (Goethe) की ये पंक्तियां कवि की सच्ची भावना प्रकट करती हैं:

---

[1] शेक्सपीयर

जैसे प्रकृति के लाखों-करोड़ों परिवर्तन निरन्तर एक परिवर्तन-
शून्य शक्ति की घोषणा करते हैं,
उसी तरह विचार के विशाल राज्य में एक सिरे से दूसरे
सिरे तक एक विशाल रहस्य घूमता है, जो सदा एक-सा
रहता है,
यह सत्य है—अनन्त बुद्धि है—जिसका परिधान सौन्दर्य है,
जो देश और काल से ऊपर है अपनी निष्ठा में पूर्ण तथा
शान्त रहता है।

रवीन्द्रनाथ के लिए अतिरेक रूप में यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों ही ठीक नहीं हैं। उनके लिए यथार्थवाद, जो कला से प्रकृति को उसके बाह्य रूप की पूर्ण प्रतिलिपि के रूप में वर्णित कराता है, वह काव्य का वैसा ही मिथ्या विचार है जैसे आदर्शवाद का, जो गलियों में घूमना गवारा नहीं करेगा; किन्तु उस आदर्श के माध्यम से आकाश में खुशी से उड़ेगा, जिसका तथ्य से कोई सम्बन्ध नहीं। उन्होंने उस मत को स्वीकार किया है, जो दोनों का उच्च ऐक्य है जिसमें दोनों को सीमित किया गया है और दोनों को पूरा। कला न तो यथार्थ और अपूर्ण से सम्बद्ध है और न आदर्श और स्पष्टता से; वह उस प्राकृतिक सत्ता से सम्बद्ध है, जो इसके अन्तर्निहित आदर्श में समाविष्ट है। "मैं एक आदर्श जीवन में विश्वास करता हूं। मेरा विश्वास है कि एक छोटे-से फूल में एक जीवित शक्ति है, जो उसके सौन्दर्य में छिपी है तथा जो एक तोप से भी अधिक शक्तिशाली है। मेरा विश्वास है कि प्रकृति जिस शक्ति से अपने-आपको पक्षियों के कलरव में व्यक्त करती है, वह कानों को बहरा बनानेवाले तोप के शब्द से भी अधिक शक्तिशाली है। मेरा विश्वास है कि एक आदर्श पृथ्वी पर मंडरा रहा है। यह आदर्श उस स्वर्ग का आदर्श है जो केवल काल्पनिक ही नहीं, वरन् अन्तिम वास्तविकता है, जिसकी ओर सारी चीजें आगे बढ़ रही हैं। मेरा विश्वास है कि स्वर्ग का यह दृश्य धूप में, पृथ्वी की हरियाली में, बहती हुई जलधाराओं में, वसन्त के सौन्दर्य में और शरद ऋतु की प्रातःकालीन शान्ति में दर्शनीय है। इस पृथ्वी पर सब कहीं स्वर्ग की आत्मा जाग्रत है और

अपनी वाणी को प्रकाशित कर रही है . . .।"[1] रवीन्द्रनाथ का प्रकृति-प्रेम इतना गम्भीर है कि प्रकृति का प्रत्येक रूप उनके लिए सौन्दर्य का प्रतीक बन जाता है। वह प्रकृति को प्रकृति के लिए नहीं, वरन् इसलिए प्यार करते हैं कि वह उसे ईश्वरीय सत्ता का एक गुण समझते हैं। वह प्रकृति को उस आनन्द के आधिक्य के लिए नहीं, जिसे यह जीवन में प्रवाहित करती है, वरन उन संकेतों और सूचनाओं के लिए जिन्हें यह उच्चतर आध्यात्मिक जीवन प्रदान करती है, प्यार करते हैं। घास की एक पत्ती या धूल का एक कण भी उनके लिए अज्ञात से संदेश लाता है। उनके लिए प्रत्येक फूल पूजा का प्रतीक है, प्रत्येक माला गीतांजलि है, प्रत्येक वन मन्दिर है और प्रत्येक पर्वतशिखर परमात्मा का निवास-स्थल है। बहते हुए पानी का शब्द, पत्तों की मर्-मर् ध्वनि, पक्षियों का गीत उस महान् परमात्मा की स्तुति के बहुत-से स्तोत्र-गान हैं। उन्हें विश्वात्मा में विश्वास है। जिसे विश्वास नहीं है, वह महाकवि नहीं हो सकता। परमात्मा की सर्वव्यापकता का दर्शन सच्चे और महान् काव्य का आधार बनाया जाना चाहिए। भारतीय कवि के लिए संसार में ईश्वर की व्यापकता दार्शनिक परिकल्पना का विषय नहीं है, वरन् यह उसी तरह वास्तविक है जैसे धूप या पैरों के नीचे पृथ्वी।[2] उनके लिए "कला के क्षेत्र में हमारे अन्दर विद्यमान पुरुष अपने उत्तरों को उस परम पुरुष के लिए भेज रहा है, जो हमारे प्रति अपनेको तथ्यों के प्रकाशहीन जगत् के पार अन्तहीन सौन्दर्य के जगत् में प्रकाशित कर रहा है।"[3] यथार्थ आदर्श को ढंक लेता है, प्राकृतिक आध्यात्मिक को और कला का कार्य जो वह करती है, यह है कि वह गुह्य आध्यात्मिक आदर्श को उजागर कर देती है। प्रकृति का लक्ष्य आत्मा बनना है। कलाकार या कवि का कार्य प्राकृतिक सत्ता को उसकी उद्दिष्ट आध्यात्मिक पूर्णता की ओर ऊंचा उठाना है। कवि उस आत्मा को मुक्त करता है, जो प्रकृति में बन्दी है। जब कवि उस आदर्शवाद से अनुप्राणित होता

---

[1] डब्ल्यू० डब्ल्यू० पीयरसन-लिखित 'शान्तिनिकेतन' में रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा लिखित उपसंहार

[2] पर्सनेलिटी, पृष्ठ २७

[3] पर्सनेलिटी, पृष्ठ ३८

है जिससे उसका शरीर और आत्मा परिपूर्ण होते हैं; उस समय यदि वह प्रकृति का स्पर्श करता है तो यह अपनी भौतिकता खो देती है। जो सामान्य है, वह अपनी सामान्यता को, जो पार्थिव है वह अपनी पार्थिवता को, और जो शान्त और अपूर्ण है वह अपनी शान्तता और अपूर्णता को खो देता है। आध्यात्मिक सत्ता की दुर्दम्य संवेदना बुद्धि से अभिभूत कवि का मन, पदार्थों के जीवन के पार्थिव आवरण में से झांकता है। ग्रीकों का यह मत कि 'कुछ खास चीजें सुन्दर हैं तथा शेष अन्य कुरूप, और कलाकार को केवल उनकी विशिष्टता का ध्यान रखना होता है'—सत्य नहीं सिद्ध होता। ग्रीक लोग अपने देवताओं की मूर्तियां मनुष्यों के पूर्ण नमूनों से बनाया करते थे, जिन्हें वे सुन्दर समझते थे, किन्तु भारतीय ऐसे मानवीय नमूनों की परवाह नहीं करते; वे आध्यात्मिक दृष्टि की स्वतः प्रवृत्ति के प्रति अपनेको केवल समर्पित कर देते हैं। शुक्राचार्य ने कहा है, "कलाकार को देवताओं की प्रतिमाओं को केवल आध्यात्मिक चिन्तन के द्वारा ही प्राप्त करना चाहिए। उसके लिए आध्यात्मिक दृष्टि ही सर्वोत्तम और सत्यतम मापदण्ड है। उसे इसपर निर्भर होना चाहिए और बाह्य इन्द्रिय-गोचर दृश्य पदार्थों पर नहीं... किसी देवता का रूप प्रस्तुत करना बहुत अच्छा है, भले ही वह सुन्दर न हो, अपेक्षा इसके कि असाधारण रूप से सुन्दर मानव के रूप को प्रस्तुत किया जाय।"[1] सामान्य भारतीय विचारधारा के अनुसार रवीन्द्रनाथ भी सौन्दर्य को स्वानुभूतिमूलक मानते हैं। किसी भी चीज को इसका माध्यम बनाया जा सकता है। भद्दी चीज भी इस दृष्टि से निरर्थक नहीं है। "कला में मनुष्य अपनेको प्रकाशित करता है न कि अपने वर्ण्य विषयों को।"[2] हमें आध्यात्मिक स्वरसंगति पैदा करनी चाहिए और तब सम्पूर्ण संसार में संगीत फूट पड़ेगा। "यह तन्त्री के तार पर हमारे स्पर्श की तरह है। यदि यह अत्यधिक क्षीण है तो हम केवल स्पर्श से ही परिचित होते हैं; किन्तु यदि यह दृढ़ है तो हमारा स्पर्श तान के रूप में

---

[1] हैवल-लिखित 'इंडियन स्कल्प्चर एण्ड पेंटिंग', पृष्ठ ५४-५५

[2] पर्सनेलिटी, पृष्ठ १२

हमारे पास लौट आता है और हमारी चेतना तीव्र हो जाती है।"[1] इसलिए तन्त्री का तार न तो यह है और न वह ; प्रत्येक चीज हमारे स्पर्श पर निर्भर है कि वह क्षीण है या दृढ़। दूसरे शब्दों में यह बात है कि हम आध्यात्मिक अग्नि से पूर्ण हैं या नहीं, अथवा हम इसे इस तरह भी प्रकट कर सकते हैं और कह सकते हैं कि वह आत्मा जिसमें अग्नि अन्तर्निहित है, वह तंत्रीवाले किसी वाद्य उपकरण की तरह है और कोई भी पदार्थ जो इसपर चोट करता है, ध्वनि को उत्पन्न करता है। "मनुष्य के व्यक्तित्व का एक प्रयत्न यह है कि वह उस प्रत्येक चीज को मानवता में परिवर्तित करे, जिससे उसका वास्तविक सम्बन्ध है। और कला पेड़-पौधों के विस्तार की तरह है, जिससे यह मालूम पड़ता है कि परिणाम में मनुष्य ने रेगिस्तान को अपने प्रयोजन के लिए कृषि-योग्य बना दिया है।"[2] संसार की चीजों का समय के प्रवाह और अवकाश की आपेक्षिकता से उद्धार किया जाता है और उन्हें उस प्रकाश में देखा गया है, जो न कभी समुद्र पर था, न कभी स्थल पर। वास्तविक कवि की दृष्टि में आध्यात्मिक रूप ऐसे सरल और स्वाभाविक हैं और ऐसे वास्तविक हैं जैसे खुली आंखों के लिए समुद्र या सूर्य का प्रकाश। सच्चे काव्य में यथार्थ को आदर्श का रूप दिया जाता है और आदर्श को यथार्थ का; और काव्य का यह विषय सर्वथा अकृत्रिम तथा पूर्ण रूप से वास्तविक है। टैनिसन के अनुसार काव्य यथार्थ घटना से भी अधिक सत्य है। इसलिए महान् कविता के अन्दर अवश्य ही आदर्श दृष्टि या सच्चा दर्शन सम्मिलित होना चाहिए। भले ही हमें काव्य अपनी वाग्विदग्धता से सम्मोहित कर दे, अपने कौशल से चकित कर दे, अपने वैभव से रोमांचित कर दे, अपनी विविधता से हमारा मनोरंजन कर दे, अपनी लय से लोरी देकर हमें सुला दे और असाधारण घटना के लिए हमारी जिज्ञासा को शान्त कर दे; किन्तु यदि इसमें आध्यात्मिक दृष्टि का अभाव है तो यह पद्य-तल पर उतर आता है और काव्य नहीं रहता।

(५)

काव्य सर्जनात्मक है, जबकि गद्य विवरणात्मक। काव्य अपने-

[1] पर्सनेलिटी, पृष्ठ १५

[2] पर्सनेलिटी, पृष्ठ २९

आपमें उद्देश्य है, जबकि गद्य किसी उद्देश्य का साधन। प्रत्येक सच्चे कवि में सृजनात्मक दृष्टि होती है, जो सौन्दर्य की उत्पत्ति के लिए सहायक होती है। यदि सृजन का कार्य विद्यमान है तो वह काव्य है, चाहे वह पद्य में हो या न हो। छन्दशास्त्र के नियम कवि के लिए हैं, पर कवि उनके लिए नहीं। कला-कौशल उद्देश्य का केवल साधन है। जो कला-कौशल का ध्यान रखते हैं और सृजनात्मक भावों या आध्यात्मिक दृष्टि के बिना तुकबन्दी करते हैं, वे तुक्कड़ होते हैं, कवि नहीं। चरणों की नियत संख्या से पद्य बनाये जा सकते हैं, कविता नहीं। कविता के लिए तो कलाकारों के अनुरूप दृष्टि और आन्तरिक प्रेरणा की आवश्यकता होती है। कला-कौशल कविता में ओज की उत्पत्ति में सहायक नहीं होता। यह भी कहा जा सकता है कि जो कला नियमों का अनुसरण करती है वह सौन्दर्य-विहीन होती है। यह तो उस धर्म के अनुसार है जिसमें आस्था नहीं; उस नैतिकता के समान है जिसमें वीरता नहीं। ऐसे भी लोग हैं, जो यह कल्पना करते हैं कि इस बात का कोई महत्त्व नहीं कि कवि क्या कहता है, शर्त यह है कि जो कुछ कहे अच्छी तरह कहे। पर यह उपादान को रूप से अलग करना है; वास्तव में ऐसा करना उचित नहीं। रवीन्द्रनाथ के लिए दृष्टि और रूप, जिनमें उसकी प्रतिष्ठा की गई है, अविभाज्य हैं। आत्मा और शरीर एक हैं, बाह्य आन्तरिक की अभिव्यक्ति है।[1] कारलाइल ने लिखा है: "रूपों पर जोर देना उपयुक्त है। धर्म और दूसरी सारी चीजें निसर्गतः रूप धारण करती हैं। सब उपादान कारण रूप धारण करते हैं; किन्तु रूप यथार्थ और उपयुक्त भी होते हैं और अयथार्थ एवं अनुपयुक्त भी। कोई सबसे अधिक संक्षिप्त परिभाषा यह कर सकता है कि, जिन रूपों को कोई उपादान आपसे-आप ग्रहण कर लेता है, यदि हम उस तथ्य की गहराई को समझते हैं, तो वे रूप उसकी वास्तविक प्रकृति और आशा के अनुरूप होते हैं, सही होते हैं, अच्छे होते हैं; इसके विपरीत जिन रूपों में किसी उपादान को जानबूझ कर ढाला जाता है, वे बुरे होते हैं। इसी प्रकार एस० टी० कौलरिज ने कहा है: "वह रूप बाहर से थोपा गया होता

---

[1] पर्सनेलिटी, पृष्ठ २०

है, यांत्रिक होता है। जब किसी उपादान को उस पूर्व-निश्चित रूप में ढाल दिया जाता है, जो आवश्यक रूप से उपादान के गुणों का परिणाम नहीं होता—जैसाकि तब होता है जब हम गीली मिट्टी को जैसा चाहते हैं वैसा रूप देते हैं, जिसका उसके सख्त होने पर बना रहना हमें अभीष्ट होता है। इसके विपरीत जीवधारियों की शारीरिक आकृति जन्मसिद्ध होती है। प्राणी जैसे-जैसे अन्दर से विकसित होता है, वैसे-वैसे पूर्व-निर्धारित आकृति को धारण करता चला जाता है, और इसके विकास की पूर्णता इसके बाह्य रूप की पूर्णता के साथ एकाकार और अभिन्न है। जैसाकि जीवन है, वैसी ही आकृति है।"[1] आकृति और उपादान एक ही होते हैं, एक-दूसरे के लिए बने होते हैं। जैसे जल अपना मार्ग बनाता है, उसी तरह उपादान अपनी आकृति का निर्माण करता है। काव्य में आत्मा अवतार लेती है, देह धारण करती है, और शरीर आत्मा से अनुप्राणित हो जाता है। महत्त्वपूर्ण बात है सृजनात्मक दृष्टि। दिव्य दृष्टि न होने पर, काव्य केवल विद्वत्ता-प्रदर्शन का अनुराग बन जाता है या पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए शब्दों का आडम्बर बन जाता है।

ऐसे भी आलोचक हैं जो यह सोचते हैं कि रवीन्द्रनाथ महाकवि नहीं हैं, क्योंकि उनका रुख काव्य के बाह्य रूप के प्रति उपेक्षापूर्ण है। किन्तु रूप ही दृष्टि के लिए माध्यम है, वह आत्मानुभूति का साधन है। कला का उद्देश्य रूप की प्राप्ति नहीं, वरन् आत्मा की प्राप्ति है। कला रूप के प्रकाशन की अपेक्षा विचार की अभिव्यक्ति अधिक है। भारत ने रूप की, केवल रूप के लिए, कभी पूजा नहीं की। कला का भारतीय सिद्धान्त हीगल से इस विचार से सहमत है कि "बाह्य आकृति, जिससे उसकी अन्तर्वस्तु प्रत्यक्षयोग्य बनाई जाती है, केवल मन और आत्मा के लिए होती है।"[2] कला का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति है, और यह प्राप्त की जाती है मूर्तिकला तथा चित्रकारी एवं संगीत तथा कविता-जैसी कलाओं से। सौन्दर्य उस अभिव्यक्ति का प्रधान तत्त्व होता है और इसलिए

---

[1] लेक्चर्स

[2] एस्थेटिक्स, १/९१

यह विचार किया जाता है कि सौन्दर्य की उत्पत्ति कला का लक्ष्य है, "जबकि कला में सौन्दर्य साधनमात्र रहा है, उसकी पूर्ण और अन्तिम महत्ता नहीं।"[1] कला के लक्ष्य के रूप में सौन्दर्य-संबंधी यह धारणा है, जिसके कारण कुछ लोग यह कल्पना करने लगते हैं कि वस्तु की अपेक्षा ढंग अधिक महत्त्वपूर्ण है। कवित्व-प्रतिभा अपने-आपमें एक विधि-संहिता है, जो अपने नियम अपने-आप बनाती है और साधारण रूढ़ियों का उल्लंघन करती है। परम्परा कविता के लिए अभिशाप तथा अंत्यानुप्रास कविता की आत्मा की स्वच्छन्द उड़ान में बाधक है—यह अनुभव करके रवीन्द्रनाथ ने लयवाले उस गद्य का प्रयोग किया, जिसका 'दि सांग ऑव सोलोमन' तथा ह्विटमैन के 'लीव्ज ऑव ग्रास' में सफल प्रयोग हुआ है। रवीन्द्रनाथ के काव्य की आत्मा ने किस खूबी से अपने शरीर को रूप प्रदान किया है, इस बात की परीक्षा उनकी किसी भी कविता से की जा सकती है। हमें उनकी कविताओं में संगीत और सुरीलापन तो मिलता ही है, माधुर्य और प्रकाश भी उनमें है। उस कविता से क्या लाभ, जहां आत्मा की स्वतन्त्रता मृत रूपों के रेगिस्तान में खो गई हो। कोई कविता तबतक कविता की श्रेणी में नहीं आती, जबतक जीवन का प्रश्वास रेगिस्तान की रेत के ऊपर नहीं बहता और मरुभूमि को फल-फूलों से नहीं खिला देता।

(६)

काव्य का दर्शन से यदि इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, तो उन दोनों के परम्परागत पारस्परिक विरोध का क्या कारण है? दर्शन की एक मिथ्या धारणा ही इसके लिए उत्तरदायी है। दर्शनवेत्ता उस व्यक्ति को माना जाता है, जो मनुष्य के सर्वांगीण विकास की परवाह न करके उसकी बुद्धि के ही विकास का प्रयत्न करता है। वह मनुष्य के हृदय और उसकी नैतिक प्रवृत्ति के विकास की सर्वथा उपेक्षा कर देता है। इस विचारधारा का प्रतिनिधि 'दि साइकल ऑव स्प्रिंग' का पंडित है, जो स्वार्थ-त्याग तथा बुद्धिमत्ता की ऊंची-ऊंची बातें करता है, किन्तु अत्यधिक स्वार्थी है। वह 'कंचनपुर के समृद्ध प्रदेश को बदले में लेकर'

---

[1] पर्सनेलिटी, पृष्ठ ९०

अपनी विद्वत्ता को थोड़ी-थोड़ी करके राजा को दे डालना चाहता है; जबकि कवि प्रेम और दयादान के प्रचार के बदले में वास्तविक अनासक्ति के कारण "पारितोषिक को बिल्कुल स्वीकार नहीं करता है।"[१] पंडित, 'जो आधुनिक युग के लोगों' की तरह सत्य को समझने की अपेक्षा भारी राशि के संगृहीत करने के लिए अधिक उत्सुक है,[२] चीजों के बाह्य तल की अपेक्षा उनको अधिक गहराई से नहीं देख सकता और उसका दृष्टिकोण, स्वार्थपूर्ण भौतिकतावादी और उपयोगितावादी है। उसके लिए—

यदि बांसों से केवल बांसुरियां ही बनाई जातीं,
तो वे लज्जा से ही झुक जाते और मर जाते।
वे आकाश में अपना सिर ऊंचा रखते हैं,
क्योंकि वे अनेक प्रकार से उपयोगी हैं।[३]

उसे खेद है कि "आकाश में आधी रात में व्यर्थ लटकते हुए असंख्य तारे' गलियों को प्रकाशित करने के लिए पृथ्वी पर नीचे नहीं उतरते और इस प्रकार करदाता की सहायता नहीं करते हैं।"[४] पंडित के सम्मुख उपयोगिता का आदर्श रहता है जबकि कवि के सम्मुख आनन्द का। एक यांत्रिकता के सामने झुकता है, जबकि दूसरा व्यक्तित्व की पूजा करता है। एक का ध्येय व्यवहारतः सांसारिकता से ओत-प्रोत रहता है, जबकि दूसरे का बच्चे-जैसा अबोध और अलौकिक।

विशुद्ध बुद्धि जिस तरह एक ईमानदार व्यपारी या अच्छा शासक बना सकती है, उस तरह महाकवि नहीं बना सकती। ब्रैडले के अनुसार, विभिन्नताओं और विरोधों में आनन्द अनुभव करनेवाली बुद्धि हमें निष्प्राण कोटि के अपार्थिव नृत्य का प्रदर्शन तो करा सकती है, जीवन के मूर्त वैभव का विकल्प नहीं हो सकती। समन्वयात्मक सूझ और सामंजस्य स्थापित करनेवाली दृष्टि के लिए हमें अन्तर्दृष्टि के द्वारा बुद्धि से बहुत ऊंचा उठना पड़ता है। "पाप और पुण्य के संघर्ष

---

[१] साइकल ऑव स्प्रिंग, पृष्ठ २२
[२] साइकल ऑव स्प्रिंग, पृष्ठ ३२
[३] साइकल ऑव स्प्रिंग, पृष्ठ ४७
[४] साइकल ऑव स्प्रिंग, पृष्ठ ४९

में मैंने बहुत-से घण्टे व्यतीत किये हैं, किन्तु अब खाली दिनों के मेरे मित्र का आनन्द मेरे हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करने में है।"[१] अन्तर्दृष्टि वह कुंजी है, जिससे उस मन्दिर का दरवाजा खुलेगा जिसमें 'अदृश्य राजा' विद्यमान है। "मृत शब्दों की धूल तुझे चिपटी है, मौन से अपनी आत्मा को धो!"[२] इसलिए यदि दर्शनवेत्ता शब्द का अर्थ बुद्धिवादी अध्यात्मशास्त्री के अर्थ में लिया जाय, जो तार्किक बुद्धि का पुजारी तो है पर अन्तर्द्रष्टा नहीं, तब काव्य का दर्शन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। 'दि विक्ट्री' की कथा में रवीन्द्रनाथ ने खोटे और खरे कवि में भेद बतलाते हुए खरे कवि का वर्णन किया है। बौद्धिक कवि पुण्डरीक का, नारायण नामक राजा के सच्चे कवि शेखर से, विरोध दर्शाया है। राजा ने ससम्मान पुण्डरीक का स्वागत किया और कहा, "हे कवि, मैं तुम्हारा स्वागत करता हूं!" पुण्डरीक ने अभिमान से उत्तर दिया "श्रीमन्, मैं युद्ध चाहता हूं।" किन्तु, "राजा का दरबारी कवि शेखर यह नहीं जानता था कि कविता की दैवी प्रतिभा का युद्ध कैसे लड़ा जाता है।"[३] यहांपर संसार-निर्माता के अभिमान और सच्चे कवि की निरभिमानता में अन्तर दिखाया गया है: "कांपते हृदय से शेखर प्रातःकाल अखाड़े में प्रविष्ट हुआ। अपने सिर को ऊंचा करके और छाती को फुलाकर उसने (पुण्डरीक ने) गरजती हुई वाणी में राजा नारायण का स्तुतिगान प्रारम्भ किया। जिस प्रवीणता से उसने नारायण नाम के विभिन्न अर्थ बतलाये और सब प्रकार की रचना के अपने पद्यों के जाल में उसके प्रत्येक अक्षर को गूंथा, उससे उसके चकित श्रोता हक्के-बक्के रह गये।" श्रोताओं पर इस प्रदर्शन का प्रभाव यह हुआ कि वे शब्द-रचयिता और तुक्कड़ की बौद्धिक गूढ़ता पर विस्मयान्वित हो गए। किन्तु शेखर ने ठीक इससे विपरीत प्रभाव पैदा किया। जब उसने शुरू किया, वह ऐसी भावना से भरपूर था, जो फूट पड़ने के लिए तैयार हो: "उसका चेहरा पीला था,

---

[१] गीतांजलि, ८९

[२] स्ट्रे बर्ड्स, पृष्ठ १४७

[३] हंग्रीस्टोन्स, पृष्ठ ३२

उसका लजीलापन मानो स्त्रियों जैसा था, उसकी सुकोमल, क्षीण, युवा-आकृति उस वीणा के समान थी, जिसके तार अच्छी तरह खींच दिये गए हों और जो संगीत में ज़रा से स्पर्श से भी टूटने के लिए तैयार हो।" और जब शेखर ने समाप्त किया, तो उसका क्या असर हुआ ? "श्रोताओं की आंखें आंसुओं से भरी थीं और पत्थर की दीवारें विजय के नारों से कांप रही थीं।" जब सच्चा संगीत सुनाई पड़ता है, बांस संगीतमय गुंजन करने लगते हैं, सांप गाने लगते हैं, पत्थर भी पिघल जाते हैं, और सारा संसार नाचने लगता है; और कविता से ऐसा ही प्रभाव बहुत-से कवि पैदा करना चाहते हैं। पुण्डरीक महान् विद्वत्ता का प्रतिनिधि है और अपने ज्ञान के अभिमान में वह पूछता है, "शब्दों से बढ़कर क्या है ?" उसके लिए "शब्द आदि-रूप था और शब्द ही परमात्मा था।" किन्तु शेखर ने क्या सिद्ध किया ?"अगले दिन शेखर ने अपना गीत शुरू किया। यह उस दिन का गीत था, जिस दिन प्रेम की बंसी ने वृन्दावन की शान्त वायु को पहली बार चौंका दिया था। गोपियों को पता नहीं था कि बजानेवाला कौन है और संगीत कहां से आ रहा है। कभी तो यह दक्षिणी वायु के हृदय से आता मालूम पड़ता था, कभी पर्वत-शिखरों पर भटकते हुए बादलों से। यह सूर्योदय के प्रदेश से प्रणयस्थल का संदेश लेकर आता था और यह अस्ताचल की सीमा से शोक की आह के साथ तैरता हुआ-सा जाता था। तारे उस वाद्य-यंत्र की खूंटियां मालूम पड़ते थे, जिन्होंने रात्रि के स्वप्नों को अपनी मधुर तान से आप्लावित कर दिया था। मालूम होता था मानो संगीत चारों ओर से, खेतों और कुंजों से, छायादार गलियों तथा निर्जन रास्तों से, नीलाकाश से और घास की चमकती हुई हरियाली से एक साथ फूटा पड़ता हो। न तो वे उसका अर्थ समझते थे और न अपने हृदयों की इच्छाओं को अभिव्यक्त करने के लिए शब्द ही प्राप्त कर सकते थे। आंसुओं ने उनकी आंखों को भर दिया और उनका जीवन उस मृत्यु की कामना करने लगा जो कि उसका उत्कर्ष हो सकती थी।" सच्चा कवि अपनी कविता में अपनेको भूल जाता है। "शेखर अपने श्रोताओं को भूल गया, अपने प्रतिद्वन्द्वी से अपनी शक्ति की परीक्षा को भूल गया। वह अपने उन

विचारों के बीच अकेला खड़ा था, जो उसके चारों ओर ग्रीष्मऋतु की वायु में पत्तों की तरह खड़खड़ा और कांप रहे थे, और जो बांसुरी का संगीत गा रहे थे।" उसे वह उत्कर्ष और स्वाधीनता प्राप्त हुई, जिसमें व्यक्ति आत्मचेतना से मुक्त हो जाता है। संसार के फंदे खुल गये और उसे चीजें वैसी दिखाई देने लगीं जैसी कि वे होती हैं और वह अपनी अनुप्राणित कविता को गाने लगा। उसे सारा संसार समस्वर और सारी प्रकृति संगीत अनुभव होने लगी। वह शब्दों का नहीं, भावनाओं से पूर्ण मनुष्य हो गया। जब शेखर बैठा, "उसके श्रोता उस अनिर्वचनीय आनन्द की व्यथा से कांपने लगे, जो विस्तृत और अस्पष्ट है और वे करतलध्वनि से उसका अभिनन्दन करना भी भूल गये।" दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वे स्वाधीनता और निश्चित आनन्द से भरपूर थे। पुण्डरीक ने अपनी प्रतिद्वन्द्वी को यह बतलाने के लिए चुनौती दी कि कौन प्रेमी था और कौन प्रेमपात्र, और "तब उसने उन नामों[1] की मूल धातुओं का विश्लेषण प्रारम्भ किया। उन नामों के प्रत्येक अक्षर को उसने उसके साथी अक्षर से पृथक् किया और उसके बाद वह उसे कठोर तर्कशास्त्र का विषय बनाता रहा, जबतक कि वे उलझन की धूल में नहीं मिल गये और उन्हें फिर से ऐसे अर्थ से पूर्ण बनाने के लिए उठाया, जिसकी पहले कभी शब्दों के किसी भी जादूगर ने कल्पना नहीं की थी।" शब्दों की इस आश्चर्यजनक कलाबाजी की प्रशंसा करनेवाले कौन मनुष्य थे ? "पंडितों को अत्यन्त आनन्द हुआ।" एक सूक्ष्म कठोर और सीधा दृश्य था, जिसकी बुद्धिवादियों ने कल्पना की। "वायुमण्डल संगीत के जादू से पूर्णतया रहित कर दिया गया था और चारों ओर के संसार का दृश्य सुकोमल हरियाली की अपनी ताजगी से चूर्णित पत्थरों से समतल और कठोर बनाये हुए ऊंचे मार्ग की दृढ़ता में बदला हुआ मालूम पड़ता था।" किन्तु राजा ने घोषणा की कि पुण्डरीक जीत गया। शेखर घर लौटा और उसने अपनी रचनाओं को आग में फेंक दिया, क्योंकि वे "केवल शब्द और बच्चों की-सी तुकबन्दी" थे। रात के समय "उसने अपने बिस्तर पर चमेली के उन सफेद फूलों को फैलाया, जो उसे प्रिय थे और उसने

[1] राधा और कृष्ण

अपनी खिड़कियों को पूरा खोल दिया।" और एक विषैला रस पी लिया। तब वहां अजिता प्रकट हुई "और उसे प्रतीत हुआ मानो उस छाया से बनी एक सजीव प्रतिमा उसके अंतिम क्षणों में उसके चेहरे को देखने के लिए बाह्य संसार में प्रकट हुई है जिस (छाया) को वह अपने हृदय के गुप्त मंदिर में सिंहासन पर प्रतिष्ठित रखता था।" "राजकुमारी ने कान में चुपचाप कहा: "राजा ने तुम्हारे साथ न्याय नहीं किया है, मेरे कवि, तुम ही प्रतिद्वन्द्विता में विजयी हुए थे और मैं तुम्हें विजय के मुकुट से आभूषित करने आयी हूं।" जब वह गा रहा था, विश्व का रहस्य—आनन्द—उद्घाटित हो रहा था। पुण्डरीक अपने श्रोताओं को केवल शब्दों से परास्त करता है, अपनी बौद्धिक सूक्ष्मताओं और चातुर्य से उन्हें मूक बना देता है और उन्हें यह विश्वास दिला देता है कि चीजों का नाम रख देना और संबंधों के वर्ग बतला देना, उन्हें स्पष्ट कर देना है। अपने अभिमान में वह यह अनुभव करता है कि विश्व का रहस्य उसकी वास्कॅट की जेब में प्राप्त किया जा सकता है। उसका विचार है कि उसके पास ऐसी कुंजी है, जिससे वह स्वर्ग और पृथ्वी की सारी समस्याओं के दरवाजों को खोल सकता है और बहुत-सी ऐसी समस्याओं के दरवाजों को भी, जो इन दोनों से ही सम्बन्ध नहीं रखती हैं। स्वर्ग के तारों से लेकर पृथ्वी के घोंघों तक प्रत्येक चीज का उसकी संसार-योजना में एक नियत स्थान है। किन्तु दयनीय बात यह है कि बौद्धिक जादूगरी में सत्य और काव्यत्व नहीं होता। काव्य आत्मा की पुकार है और इसका उन दावों से कोई संबंध नहीं होता, जो पुस्तकों पर पलते हैं, क्योंकि इनसे आत्मा का पोषण नहीं होता। राजा के साथ जिन लोगों ने उसका अभिनन्दन किया, उसका कारण यह था कि उन्हें "इस निश्चय का भ्रम हो गया था कि उन्होंने उस दिन सचाई के उन परदों की अन्तिम लीर देख ली थी जिनकी बुद्धि के आश्चर्य-जनक व्यक्ति ने धज्जियां उड़ा दी थीं। किन्तु वे यह पूछना भूल गये थे कि क्या आखिरकार उसके पीछे कोई सत्य था?"[1] पुण्डरीक के सीने से विजय की किरणें मुस्करा रही थीं और उन्होंने राजा के हृदय को प्रभावित किया। लोगों ने राजा से संकेत ग्रहण किया और उनके ऊपर

[1] हंगरी स्टोंस, अध्याय २

पुण्डरीक की प्रशंसा का जादू चढ़ गया। उन्होंने न सोचा, न प्रश्न किया, किन्तु वे ज्वार-भाटे में बह गये, उन्होंने अपने टोप उछाले, उसका अभिनन्दन किया और आनन्द से उछल पड़े। इसमें आश्चर्य नहीं कि पुण्डरीक की विजय हुई। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने यह निर्देश किया है कि 'बौद्धिक काव्य' यह शब्द आत्म-विरोधी है। इसलिए यदि दर्शन-वेत्ता से हमारा अभिप्राय अंतर्दृष्टि से संपन्न द्रष्टा से है, जो अपने तुच्छ व्यक्तित्व से ऊंचा उठ गया है, जिसने चेतना की सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है तो वह उस कवि के साथ एक और अभिन्न है जो आत्मा की कानाफूसी को सुनता है और उसे वाणी प्रदान करता है।

इस बात का प्राय: समर्थन किया गया है कि काव्य और दर्शन विरोधी हैं, क्योंकि काव्य के विषय जीवन, अस्तित्व और संचलन हैं, जबकि दर्शन के विषय शान्ति, विश्रान्ति और अपरिवर्तनशीलता हैं। दर्शन को सूक्ष्म, निर्जीव और अतात्त्विक के रूप में प्रकट किया गया है, जबकि काव्य को समृद्ध, आनन्दप्रद और दीप्तिमान माना गया है। किन्तु हमने देख लिया है कि दर्शन का यह वर्णन अन्यायपूर्ण और एकतरफा है। जबकि कुछ दर्शन-प्रणालियां यह परिणाम निकालती हैं कि केवल सत्ता ही यथार्थ है, सत्ता का ग्रहण नहीं। दर्शन का प्रयत्न सत्ता और सत्ताग्रहण दोनों को ही एक संपूर्ण अवयवी के रूप में संगठित करना है। मूर्त आदर्शवाद की आधुनिक प्रणालियां हमारे सामने इस प्रकार के समन्वय करनेवाले अवयवी को प्रस्तुत करती हैं। न तो दर्शन, न ही काव्य चीजों को उस रूप में अपना विषय बनाते हैं, जिस रूप में वे प्रतीत होती हैं; किन्तु इनका संबंध चीजों के उस रूप से है, जो कि वास्तव में उनका है। काव्य और दर्शन, दोनों ही पहली दृष्टि में देखें तो जीवन की आलोचनाएं या उसकी व्याख्याएं हैं। दोनों ही उस 'आलस्य' के विरुद्ध विरोध प्रकट करती हैं, "जो चीजों को उसी रूप में ग्रहण करता है जैसी कि वे हैं और आत्मा की उस दीनता" का भी विरोध करते हैं, "जो प्रथम दृष्टि में देखे रूपों से ही सन्तुष्ट हो जाती है।"

(७)

कवि परमात्मा की, सौन्दर्य की आत्मा के रूप में पूजा करता है,

जबकि दार्शनिक उसे सत्य के आदर्श के रूप में श्रद्धांजलि अर्पित करता है। दर्शन सत्य का मन्दिर है, जबकि काव्य सौन्दर्य का तीर्थ है। ये दोनों परस्पर-विरोधी नहीं हैं, क्योंकि सत्य सौन्दर्य है और सौन्दर्य सत्य। सत्य निरपेक्ष है, यद्यपि उसकी प्राप्ति के अनेक उपाय हैं। दर्शन हमें यह बतलाता है कि किस तरह वह सारग्राही दृष्टि सत्य है, जो सारे पदों और सम्बन्धों को एक मूर्त आध्यात्मिक अवयवी में एक साथ बांध देती है। काव्य दर्शन की दृष्टि को व्यक्तित्व प्रदान करता है। रवीन्द्रनाथ चिन्तनशील विचारक हैं, किन्तु उनकी दृष्टि में तर्क और चिन्तन, दोनों, कल्पना और भावना से गौण हैं। उनके दार्शनिक विचार आध्यात्मिक दृष्टि में पकड़े जाते हैं और उनकी काव्य-कृतियों में बंदी बना लिये जाते हैं। उनकी कविता की आत्मा उनके जीवन की आत्मा है। अमूर्त और बौद्धिक कोटियां उन चीजों की चमक और उष्णता से आप्लावित हो जाती हैं, जो देखी और अनुभव की जाती हैं। यदि उदाहरणों की आवश्यकता है तो रवीन्द्रनाथ का उदाहरण इस चिल्लाहट को असत्य सिद्ध करेगा कि रहस्यवाद अच्छी कविता से असंगत है। इन आलोचकों को इस बात की भी परवाह नहीं कि दांते तथा गेटे और धर्मप्रधान एशिया के बहुत-से प्राचीन कवियों का मत इसके विरुद्ध था...और वे इस सिद्धान्त का दावा करते थे और उसे व्यवहार में लाते थे कि सारी सच्ची कविता रहस्यवादी है। उपनिषदों के रचयिता कवि-दार्शनिक थे। ईरान के बहुत-से महाकवि सूफी अर्थात् रहस्यवादी दार्शनिक थे, जिनका उद्देश्य उस आध्यात्मिक पूर्णता की स्थिति को प्राप्त करना था, जहां आत्मा सांसारिक सुखों से पृथक् रहती हुई पवित्र चिन्तन में विलीन हो जायगी, जो अन्ततः इन कवियों के नेत्रों और दृष्टियों में विद्यमान है। दर्शन और धर्म उन सर्जनात्मक शक्तियों में गिने जाते हैं, जिन्होंने एशिया की कला और काव्य को ढाला है। श्री हावेल ने लिखा है, "भारतीय कला, सौन्दर्य को सौन्दर्य के ही रूप में कठिन प्रयत्न से प्राप्त करने के योग्य नहीं समझती, इसलिए सौन्दर्य के लिए जानबूझकर किये गए प्रयत्न से उसका कोई सरोकार नहीं; सान्त के द्वारा अनन्त को प्राप्त करने की अनुभूति के लिए हमेशा इसका प्रधान प्रयास रहता है और इससे हमेशा यह विश्वास होता है

कि पार्थिव सौन्दर्य के आध्यात्मिक उद्‌गम की अभिव्यक्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न के द्वारा मानव-मन ईश्वर के पूर्ण सौन्दर्य को अधिकाधिक ग्रहण करेगा।"[1] यही बात श्री लारेन्स विन्यन ने भी स्पष्ट की है। "नग्न मानव रूप का वैभव नहीं, जो पाश्चात्य कला की दृष्टि से सबसे अधिक उदात्त और भावप्रदर्शक प्रतीकों में से एक है, न मानव-व्यक्तित्व का अभिमान और चेतन स्वीकृति; किन्तु इन सबके बदले अपने-आपमें से निकालकर हमें सार्वभौम जीवन में ले जानेवाले सारे विचार अनन्त के संकेत, रहस्यमय स्रोतों से कानाफूसियां—पर्वतों, जलों, कुहरों, खिलते हुए पेड़ों, जो-कुछ भी हमें अपनी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली की शक्तियों और विद्यमानताओं से परिचित कराता है; ये सब वे विषय हैं, जिनमें तल्लीनता रही है, जिन्हें दिल में स्थान दिया गया है और जिन्हें सबसे अधिक पसन्द किया गया है।"[2] भारतीय कला का उद्देश्य दृश्य तथा अदृश्य का, भौतिक तथा आध्यात्मिक का कल्पना की सहायता से वर्णन करना है। कला का कार्य मनुष्य के सच्चे संसार का निर्माण करना है। मनुष्य सत्य है जहां वह अपनी अनन्तता का अनुभव करता है, जहां वह दिव्य होता है, और जहां दिव्य सत्ता उसकी सृजनशक्ति होती है।"[3] स्वानुभूतिमूलक कवि के बारे में बतलाते हुए ब्राउनिंग ने कहा है कि वह "प्रत्यक्ष की हुई वस्तु को, इतना अधिक उनके सम्बन्ध से नहीं जो बहुत अधिक संख्या में नीचे है, किन्तु उस एक के सम्बन्ध से जो ऊपर है, मूर्तरूप प्रदान करने के लिए, उकसाया जाता है....वह नहीं जिसे मनुष्य देखता है, किन्तु वह, जिसे परमात्मा देखता है....इनके प्रति वह संघर्ष करता है।"

(८)

जबकि दर्शन तथा काव्य दोनों का उद्देश्य एक ही है, उनक प्रारम्भ किये जाने के स्थान भिन्न-भिन्न हैं। वे यथार्थता को भिन्न-भिन्न

[1] आइडियल्स ऑफ़ इंडियन आर्ट, पृष्ठ ३२

[2] पेंटिंग इन दी फ़ॉर ईस्ट, पृष्ठ २२

[3] पर्सनेलिटी, पृष्ठ ३१

दृष्टिकोणों से अपना विषय बनाते हैं। जबकि दर्शन का उद्देश्य उस समन्वय का बोध कर लेना है जिसमें विश्व के सभी पहलू इकट्ठे हो जाते हैं, काव्य का उद्देश्य उस दिव्य दर्शन को प्राप्त कर लेना होता है, जिसमें कवि संसार के सौन्दर्य की वस्तुओं को अखण्ड रूप में देखता है। दर्शन विचार द्वारा संसार की अखण्ड रूप में कल्पना का प्रयत्न है। इसका लक्ष्य विश्व के सिद्धान्त को स्थिर करना है, और यदि उस सिद्धान्त में भावना की विशेष प्रबलता और गहराई से विश्वास किया जाय, यदि यह केवल बौद्धिक रूप में स्वीकार्य होने के स्थान पर संपूर्ण चेतना पर अधिकार कर लें, तो दार्शनिक दृष्टि सर्जनात्मक और काव्य-गुण-संपन्न हो जाती है। जो विचार भावना से और चेतना के दूसरे तत्त्वों से आप्लावित हो जाता है, मनन द्वारा ऊंचा उठ जाता है। इस मनोदशा में आत्मा को अपनी स्वत:-प्रवृत्ति और सर्जनात्मकता द्वारा कल्पना-प्रवण दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है। किन्तु जबतक सिद्धान्त केवल बौद्धिक विश्वास-मात्र बना रहता है, तबतक दर्शन और कविता के बीच भेद बना रहता है। दार्शनिक उन विभिन्नताओं को दृढ़ता से अपनाये रहता है जो विचार के समन्वय में एक-दूसरे के अनुकूल बना दी जाती हैं, किन्तु उनकी अनुकूलता अमूर्त और कल्पनात्मक रहती है। कवि तर्क नहीं करता, किन्तु उसे सहज ज्ञान होता है। वह सत्य के सम्बन्ध में अनुमान नहीं करता, किन्तु सत्य को गहरी वास्तविकता और सार्थकता के साथ अनुभव करता है। वह जीवन व्यतीत करता है और जीवन द्वारा अपने सिद्धान्तों का अभिस्रावण-शोधन करता है। जीवन की सजीव एकता अपनी सारी अवयवधानता और मूर्तता के साथ कविता में प्रकट की जाती है, जबकि दार्शनिक निबन्धों में इसपर केवल तर्क ही किया जाता है। सच्चा दार्शनिक सच्चे कवि के साथ सहज ज्ञान की प्रणाली का ही अनुसरण करता है। दोनों में ही आत्मविस्मरण और स्वत:प्रवृत्ति की विशेषता होती है। प्लेटो ने कवि का यह वर्णन किया है कि वह तर्क से रहित होता है, किन्तु ईश्वरत्व से भरपूर होता है; यही बात दार्शनिक के संबंध में भी सत्य है।

(९)

दर्शन हमें बतलाता है कि संसार तर्कसंगत है; काव्य बतलाता है कि वह सुन्दर है। दर्शन हमारी बुद्धि से संसार को समन्वित करता है, काव्य हमारी भावनाओं से। दर्शन अव्यवस्था और अतार्किकता को सहन नहीं कर सकता; काव्य प्रकृति तथा समाज की कुरूपता तथा उनके प्रति विरक्ति को स्वीकार नहीं कर सकता। सबसे बड़ी दुर्घटनाएं प्रथम दर्शन में ही भयावह होती हैं; कवि को उनमें कल्याण के संसार का अनुभव होता है। वह हमें दिखाता है कि कैसे शोक "शोक नहीं है, किन्तु आनन्द है।"[१] परिणामतः संसार प्रेम के योग्य है। काव्य संसार से हमारी आत्मा का स्वरैक्य उत्पन्न करता है। और हमें यह अनुभव कराता है कि संसार जीवन बिताने के योग्य स्थान है। यह कुछ वह विचारों और युक्तियों से नहीं करता, वरन् संगीत और कल्पनाप्रवण भावना से करता है। काव्य कल्पना को साक्षात् रूप से प्रभावित करके हमें आनन्दित करता है और वह बुद्धि का नहीं, बल्कि आत्मा का समाधान करता है। दार्शनिक जिस दिव्य दर्शन को देखता है, कवि उसे तरोताजा करता है। काव्य में दर्शन जीता है। यह मांसलता को धारण करता है। यह हमें दार्शनिक विचार ही नहीं देता, अपितु वह विचार जैसे जीता है या विचार को जीवन भी देता है। दर्शन तथा सत्य ज्ञान के प्रसार के लिए कविता से अच्छा कोई माध्यम नहीं। यह अधिक शान्ति से सत्य का प्रसार करती है। इसके द्वारा सत्य अनजाने में, बिना प्रयत्न के, सरलता से मन में प्रवेश कर जाता है। वर्ड्सवर्थ ने कहा है: "जो कुछ हृदय से आता है, हृदय में चला जाता है।" काव्य सत्य का कथन करने के लिए अभिप्रेत नहीं है, केवल अनुभव की अभिव्यक्ति है। यह जो-कुछ हृदय में होता है, उसे अभिव्यक्त करता है। आत्मा को संवेगों से आप्लावित करके, मनोवृत्ति को आनन्द से संसिक्त करके, काव्य पाठक को कवि-हृदय के संपर्क में लाता है, उसे उसकी प्रकृति से सहानुभूति करने के लिए प्रेरित करता है और उस वातावरण को उपस्थित करता है जो उसकी आंखों

---

[१] वर्ड्सवर्थ

के सामने तैरता रहता है और जिसमें कवि रहता है, संचालित होता है, और अपनी सत्ता को धारण करता है। यह मन को तथ्यों और सिद्धान्तों से बुरी तरह नहीं लादता है, बल्कि यह इसके लिए दिशा का निर्देश करता है। यह सिखाता नहीं, वरन् हृदय को स्पर्श करता है, संवेगों को उत्तेजित करता है और समस्त मन को सांचे में ढाल देता है। ज्ञान के प्रचार के साधन रूप में यह दर्शन की अपेक्षा अधिक उपयोगी है; क्योंकि जब दार्शनिक द्वारा किया हुआ अनुमान बुद्धि के लिए अपनी सिफारिश कर सकता है, तब बहुत सम्भव है कि वह मनुष्य-जीवन के दूसरे पहलुओं को सन्तुष्ट करने में असमर्थ समझा जाय। दर्शन मनुष्य के ज्ञातारूप को संतुष्ट करता है, किन्तु वह "पूर्णतया वही (ज्ञाता ही) नहीं"[१] है। काव्य में हमें इस प्रकार का डर नहीं होता; क्योंकि उसमें मनुष्य के सारे व्यक्तित्व को प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता है। "मनुष्य के अनुभव-ज्ञान के सांचे में संसार जो रूप धारण करता है, वह उसकी इन्द्रियों और मन का केवल आंशिक संसार ही होता है। यह अतिथि की तरह होता है, भाई-बंधु की तरह नहीं।" तब यह पूर्णतया हमारा अपना हो जाता है। जब यह हमारे संवेगों की पहुंच में आ जाता है।"[२] कविता "हमें उन विचारों से परिचित कराती हैं जो भावनाओं से अनुप्राणित होते हैं, और जो हमारी प्रकृति का जीवन-तत्त्व बनने के लिए तैयार होते हैं।"[३] हमें यह विश्वास होता है कि कवि जिस बात को वाणी प्रदान कर रहा है, उसे वह जीवन में अनुभव कर चुका है, क्योंकि वह सीधे जीवन ही से बोलता है। "जाने या अनजाने में मैंने बहुत-सी ऐसी बातें की होंगी, जो असत्य थीं; किन्तु मैंने अपनी कविता में ऐसी कोई बात नहीं कही, जो असत्य हो। यह वह पवित्र मंदिर है, जहां मेरे जीवन के गम्भीरतम सत्य प्रकट होते हैं।"[४] कवि की कृति पर उसके जीवन और व्यक्तित्व की छाप

---

[१] पर्सनेलिटी, पृष्ठ १३

[२] पर्सनेलिटी, पृष्ठ १४

[३] पर्सनेलिटी, पृष्ठ १५

[४] लेटर्स, 'मॉडर्न रिव्यू', जुलाई १९१७

होती है और जो-कुछ एक मनुष्य के जीवन का अंग है, वह निश्चय ही दूसरों के जीवनों में भी प्रविष्ट हो सकता है। इसके अतिरिक्त सारी सच्ची कविता कवि के संदेश को स्वीकार कराती है, क्योंकि वह इसे इतने आवेग और भावना, शक्ति और पूर्णता से अभिव्यक्त करता है कि उसे पढ़ना ही उसमें विश्वास करना है। कलाकार की प्रेरणा उन्हें मौन सहमति के लिए बाध्य करती है, जो दर्शन के तर्क को समझने में असमर्थ हैं। यदि संसार का सत्य तर्क और सिद्धि के हथौड़ों से मनुष्य के मस्तिष्क में नहीं ठूँसा जा सकता तो कवि की कविता की सुन्दरता उसके हृदय पर विजय प्राप्त करके रास्ता निकाल सकती है; और जहां तर्क असफल हुआ, वहां वह सफल हो सकती है। कविता की कल्पना तथा सुगन्ध और संगीत तथा स्वर के सम्मुख मनुष्य अपनेको निस्सहाय अनुभव करता है, वहां उसकी आलोचनात्मक शक्ति मौन धारण कर लेती है। कविता कल्पना को जाग्रत करती है। तर्क-शास्त्र शुरू हो जाता है और विवेक विश्राम करने लगता है। कवि के साथ आत्मा विचारती है, अनुभव करती है और मनोरंजन में मग्न हो जाती है। काव्य सत्य के जीवन के साथ आत्मा की स्वरैक्यता उत्पन्न करता है और पाठक मन की आंख से सत्य का दर्शन करता है और आत्मा के श्रोतों से इसे सुनता है। अपने संगीत और स्वर-माधुर्य से कविता स्वीकृति के लिए प्रेरणा देती है, आलोचना को निरस्त्र कर देती है और आत्मा को अभिभूत। हम कविता में प्रमाण नहीं मांगते हैं, क्योंकि कविता स्वयं अपना प्रमाण है, सत्य स्वयं अपना साक्षी है। यदि रवीन्द्रनाथ ने भारतीयों के हृदयों को प्रभावित किया है तो केवल इस कारण कि वह प्रथम और प्रधान रूप से कवि हैं, दार्शनिक नहीं। किन्तु अपनी सारी कृतियों में उन्होंने प्राचीन हिन्दू कला के महान् आदर्श को ध्यान में रक्खा है। वह आदर्श है, "हिन्दूधर्म और दर्शन के केन्द्रभूत विचारों को सारे हिन्दू धर्मावलम्बियों के लिए बुद्धिगम्य बनाना—अक्षर-ज्ञान से शून्य किन्तु ज्ञान से अशून्य हिन्दू किसान और बुद्धिसम्पन्न ब्राह्मण, दोनों को ही सन्तुष्ट करना।"[१] हिन्दूदर्शन और धर्म के अत्यधिक सूक्ष्म विचारों ने उनके

[१] हावेल, दी आइडियल्ज ऑफ दी इंडियन आर्ट, इण्ट्रोडक्शन १८

गीतों में अपनी शास्त्रीय विविक्तता को छोड़ दिया है और वे मनुष्य के सामान्य जीवन के अंग बन गये हैं। रवीन्द्रनाथ ने भारत के उन महर्षियों की परम्परा का अनुसरण किया है, जिन्होंने उपनिषदों तथा अपनी कृतियों के प्रगीतों में वही गाया, जो कुछ उन्होंने अनुभव किया। भारत के भक्तिमय तथा काव्यपूर्ण साहित्य ने कविता और संगीत के रूप में शरीर धारण किया है। भारत के महाकाव्यों—रामायण तथा महाभारत—के द्वारा पुरोहित तथा किसान, और राजकुमार तथा कर्मकार, सभी उस भारतीय दर्शन तथा धर्म की तत्त्विक बातों से परिचित हो गये हैं, जिन्हें भारत के ऋषियों ने विचार के द्वारा प्राप्त किया था। कला भारत के राष्ट्रीय जीवन में इतनी गहराई से प्रविष्ट हो गई कि वे भारतीय किसान जो अक्षर-ज्ञान-शून्य होने के अर्थ में अशिक्षित हैं, संस्कृति की दृष्टि से संसार के किसी भी प्रदेश के किसानों से अपनी तुलना को चुनौती दे सकते हैं। गीतांजलि की भूमिका में श्री यीट्स ने टिप्पणी की है, "जिस परम्परा में काव्य और धर्म एक ही चीजें हैं, वह शिक्षितों और अशिक्षितों से रूपक और संवेगों को एकत्र करती हुई शताब्दियों से चलती रही और फिर से विद्वानों और कुलीनों के विचारों को जनता तक पहुंचाती रही है।"[1] जबकि यह सत्य है कि काव्य उपदेशात्मक नहीं है और न ही शिक्षा देता है, तो भी यह यथार्थ जीवन को पुलकित करता है और अपने विचारों को मनुष्य की संवेगात्मक प्रकृति में देदीप्यमान करता है। रवीन्द्रनाथ की कृतियां प्लुटार्क के उस कथन के अनुरूप हैं जिसके अनुसार, 'कविता को हमें दर्शन में दीक्षित करना चाहिए', और यही कारण है कि ये बहुतों को आध्यात्मिक जीवन की सम्भावनाओं के प्रति सजग बना रही हैं। उनके गीत राष्ट्रीय गीत बन गये हैं, जिनमें ऐसे शब्द हैं जो अनुप्राणित करते हैं, और ऐसे विचार हैं, जो तीव्र उत्साह पैदा करते हैं। उनके शब्द कानों को अच्छे लगते हैं, उनके विचार हृदय में डूब जाते हैं। उनकी कविता वह प्रकाश है, जो मन को आलोकित करता है; वह संगीत है, जो रक्त को

---

[1] गीतांजलि, पृष्ठ १४

आन्दोलित करता है; वह तुक है, जो हृदय को हिला देती है। प्रतिभा के आवेश से कांपती हुई और अपनी सारी जाति को गौरवान्वित करती हुई रवीन्द्रनाथ की वाणी भारत के डूबते हुए हृदय में, अपने प्रति, अपने भविष्य के प्रति और संसार के प्रति उसके भविष्य में विश्वास को धीरे-धीरे स्थापित करती है।

: ४ :

भारत को रवीन्द्रनाथ टैगोर का संदेश

गायक का अपनी कला के समर्थन में
यह कहना निरर्थक नहीं है :
वह गीत जो राष्ट्र के हृदय को हिला दे
स्वयं एक ओजस्वी रचना है।

—टेनीसन

अरब की प्राचीन जातियां अपने उत्सव मनाने ठाट-बाट तथा उल्लास के साथ एकत्र होतीं, गाती-बजातीं, (होली की-सी) अग्नि जलातीं, सम्मानसूचक मुकुट पहनतीं, और श्रद्धापूर्वक इस बात के लिए देवताओं का धन्यवाद करतीं कि उनकी जाति में भी कवि ने अवतार लिया है। जैसा कि सचमच उन्हें करना चाहिए था, क्योंकि किसी समय या परिस्थिति में अधिक-से-अधिक दया का कार्य करते हुए देवता और अधिक उपयोगी—मैं उसे अधिक उदात्त या दिव्य तो नहीं बताऊंगा—क्या चीज किसी जाति या राष्ट्र के लिए भेज सकते थे।

—कारलाइल

ऐसे महान् पुरुष, जो किसी भी युग में विरल हैं, जो अपने देश का मानस गढ़ते हैं और जिनका मूल्यांकन अपने ही जीवनकाल में पूरी तरह नहीं होता, हमारे युग में उनका जन्म लेना असाधारण बात है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ऐसे ही महामानव हैं, आधुनिक भारत जिनका ऋणी है, और उस ऋण को मापने की धृष्टता हम नहीं कर सकते। उनकी शिक्षा दूर-दराज भारत के कोनों में पहुंची है, उनके कार्य से हमारे देश की कितनी नैतिक पुनर्जागृति और सामाजिक उन्नति होगी, यह कहना अभी बहुत कठिन है। वास्तव में वह एक राष्ट्रीय कवि हैं। भारत उनके हृदय में जो भाव भरता है, वह और कोई नहीं भर सकता। भारत की आवश्यकता को वह जानते हैं और हमें उसका ध्यान दिलाते हैं। वह भारतीय आत्मा की आन्तरिक

वेदना का अनुभव हैं, उसमें उठते उद्वेगों को, आशंकाओं को समझते हैं, जिन कठिनाइयों में वह घिरी है, उनसे मुक्ति दिलाने और आत्म-शांति प्रदान करने के लिए वह विकल हो उठते हैं। उनकी पुस्तकों में भारतीय जीवन के सुख और दुःख, आशा और निराशा, संशय और विश्वास समाविष्ट हैं। जॉनसन के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि 'रवीन्द्रनाथ की रचनाएं ऐसी भावुकता से परिपूर्ण हैं, जिसकी प्रतिध्वनि हर भारतीय हृदय से उठती और गूंजती है।' वह ऐसी आशंकाओं को शब्द देते हैं, जो भारत के किसी समय के उज्ज्वल विश्वास को आज अन्धकारमय बनाये हुए हैं।

उनका जन्म ऐसे समय में हुआ, जब अन्धविश्वास का बोलबाला था और सामाजिक अव्यवस्था पराकाष्ठा को पहुंच चुकी थी; जब ऐसी अराजकता फैली थी जैसा शायद पहले कभी नहीं देखी गई। भारत के राष्ट्रीय कवि के नाते उन्होंने भारतीय समाज की व्याख्या की और उसके विचारों को सुधारा। उभरते हुए अविश्वास की गहराई में जाकर ईश्वर और भारत के भविष्य के प्रति दृढ़तर आस्था के आधारों को निर्माण करने का कार्य धीरे-धीरे कवि की कृतियों ने किया।

वह एक ऐसी विरल आत्मा थी, जिसने संसार को मानवता का संदेश दिया। पुनीत मानवता की दृष्टि से उनका संदेश महत्तम था। उनकी रचनाएं केवल राष्ट्र की संकुचित सीमा में नहीं बँधीं, किन्तु उन्होंने एक विशाल दृष्टिकोण को अपनाया। उनमें बसी भारत की आत्मा केवल भारतीयों से नहीं, समस्त संसार से कुछ कहती है। ब्रिटिश साम्राज्य से उन्हें एक विशेष शिकायत है, जिसे वह छिपाते नहीं। डा० संडरलैंड ने 'क्रिश्चियन रजिस्टर' के एक लेख में लिखा है—"संसार के किसी भी देश ने धर्म और जीवन की सभी समस्याओं पर इतने महान् विचारक पैदा नहीं किये, जितने प्राचीन भारत ने। आज के भारत में मि० टैगोर से अधिक मेधावी, दयालु, उदार और महान् शिक्षक नहीं है। ऐसा भी कोई नहीं, जो उनसे अधिक हमसे उसे, जो कुछ भी हम दे सकते हैं, ग्रहण करने को उत्सुक हो तथा अपनी ऐतिहासिक भूमि के उच्चतम ज्ञान को हमें

देने में समर्थ हो। रवीन्द्रनाथ भारत की प्राचीन प्रज्ञा की व्याख्या विश्व के सामने करते हैं। उनके काव्य और संगीत से रूपांतरित तथा उनके मेधावी मस्तिष्क और संस्कृति द्वारा पुनःसंशोधित आद्यतन बनायी हुई वह प्रज्ञा आत्मिक क्षुधा को तृप्त करने की क्षमता रखती है। विश्व उनका सम्मान केवल इसीलिए नहीं करता कि उनका व्यक्तित्व वैभवपूर्ण है और प्रकृति के विविध रूपों का वर्णन उनकी कविता में हुआ है, अपितु इसलिए भी करता है कि उनकी कृतियों में आध्यात्मिक संदेश है।"

(२)

आज भारत के सामने महान् समस्या देश के धार्मिक भविष्य की है। धार्मिक स्थिति को हमें इस प्रकार संभालना होगा, जिससे देश की आध्यात्मिक शक्ति का विकास हो तथा यहां फैले हुए देशी और विदेशी सभी धर्मों, विश्वासों और मतों के प्रति न्याय हो और सब इस भूमि में फल-फूल सकें। रवीन्द्रनाथ एक स्वप्न देखते हैं और हमारे सामने भारत का एक ऐसा चित्र उपस्थित करते हैं, जिसके अनुसार भातीय जनता अंधविश्वासों से ऊपर उठकर आपस की मिथ्या धारणा को त्याग कर और सब प्रकार के झगड़ों को मिटाकर या अपने-अपने ढंग से एक ईश्वर की पूजा करें। उनके धर्म का अर्थ है, ईश्वर के प्रति गहरी भक्ति। उनका पथ ज्ञानमार्ग का नहीं, वरन् आत्मा की अनुभूति का है। पूजा की बाह्य विधियां विभिन्न हो सकती हैं, किन्तु धर्म का गहरा आन्तरिक अनुभव एक ही होता है। सूफी फकीर, ईसाई पादरी और हिन्दू ऋषि सब स्वीकार करते हैं कि यह सृष्टि परमात्मा द्वारा शाश्वत सौंदर्य का प्रकाशन है, उसकी रचना मनुष्य है, जिसकी पूर्णता उसी परमात्मा से एकाकार होने में है। रवीन्द्रनाथ का दर्शन पूर्णतया ठोस ढंग का आदर्शवाद है। उनका परमात्मा निराकार नहीं जो विश्व से विलग रहता हो; वह इस विश्व के जीवन की ऐसी केन्द्रीय शक्ति है, जो हवा में तूफान और सागर में लहरें पैदा करे। जन्म और मृत्यु के तांडव नृत्य का यह एक अन्तिम सत्य है। रवीन्द्रनाथ की पूर्ण दृष्टि ऐसी है जो शरीर और मन, जड़ और चेतन, व्यक्ति और समष्टि, जाति और राष्ट्र तथा साम्राज्य और

संसार, इनका एक-दूसरे से पूर्ण विभाजन सहन नहीं कर सकती। संसार-भर के रहस्यपूर्ण अनुभवों के पीछे यही दर्शनतत्त्व निहित है। रवीन्द्रनाथ का धार्मिक संदेश सहज है: "धर्मों में आपसी भेद भले ही रहें, किन्तु तुम धर्मनिष्ठ रहो। आनन्द उनके लिए है, जो आत्मा की इस एकता और पूर्णता का अनुभव करते हैं। वह उनके लिए है, जो अन्तरात्मा में निहित उस दिव्यात्मा की आवाज सुनते हैं।"[1] इस लक्ष्य पर पहुंचने के लिए आवश्यक नहीं कि परम्परागत मार्ग का ही अनुसरण किया जाय, क्योंकि भक्ति का मार्ग पदचिह्नों से निर्दिष्ट मार्ग नहीं है।[2] रवीन्द्रनाथ हमें शुद्ध धर्म बताते हैं, जो सभी युगों और कालों में एक-सा है, जिनमें मनुष्य की विशुद्ध बनी आत्मा अपने अनुरूप घर प्राप्त कर सकती है। उनका धर्म मनुष्य के बने नियमों-उपनियमों या चर्च के आदेशों से प्रतिबद्ध नहीं, जो बाधाएं उपस्थित करता रहे। "जब धर्म को धार्मिक संगठनों के लिए रास्ता देना होता है, तब उसकी स्थिति रेतीले मैदान में बहती नदी के जैसी होती है; उसका प्रवाह स्थिर हो जाता है और उसका रूप रेगिस्तान के जैसा हो जाता है।"[3] स्वतंत्र और पवित्र होने पर धर्म का आध्यात्मिक सम्बन्ध सभी सम्प्रदायों और मतों से होता है। सभी प्रकार की आत्माएं इसमें मौलिक आध्यात्मिक संतोष पा सकती हैं। रवीन्द्रनाथ विभिन्नताओं में एक बुनियादी एकता का दर्शन करते हैं और इसलिए उनका धर्म सबको अपील करता है। उनके बोलपुर-स्कूल में ब्रह्मसमाजी, ईसाई और हिन्दू सभी हैं। धार्मिक विश्वासों की विभिन्नता वहां कोई कठिनाई प्रस्तुत नहीं करती, क्योंकि कोई भी व्यक्ति किसी विशेष सम्प्रदाय के सिद्धान्त पर नहीं चलता। कविवर एक निराकार परब्रह्म की ही उपासना पर जोर देते हैं, चाहे उपासना की विधि कोई भी हो। उनके एक लेख 'ईसा की भारत को अपील' (दि अपील ऑव क्राइस्ट टु इंडिया[4]) से ज्ञात होता है कि उनका धर्म ईसाई धर्म के कितना समीप है। उसमें वह पूछते हैं, "उसके (ईसा) सिवा

---

[1] फ्रूट गैदरिंग, ७

[2] फ्रूट गैदरिंग, ६, १४, १६

[3] 'मॉडर्न रिव्यू', सितम्बर १९१७, पृष्ठ ३३५

[4] दि क्वेस्ट, अप्रैल १९१६

किसने हर रूप से मनुष्य को चमकाया है ?" उनकी यह आशा है कि भारत की भूमि पर संसार के जिन विभिन्न धर्मों का सम्मिलन हुआ है, वे एक-दूसरे से टकराना छोड़ देंगे और आपस में मेल-मिलाप स्थापित करेंगे। "हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान और ईसाई कोई भी भारत की भूमि पर आपस में नहीं लड़ेगा, वे सब यहां एक समन्वय की खोज करेंगे और उसे प्राप्त करेंगे। वह समन्वय अहिन्दू नहीं होगा। वह अनूठे रूप से हिन्दू होगा। उसका ऊपरी स्वरूप कुछ भी हो, उस परिणाम की एकरूपता में भारतीय आत्मा का ही निवास होगा।"[1]

रवीन्द्रनाथ ने मत, प्रान्त या भाषा के आधार पर नहीं, वरन् विश्व-बन्धुत्व जैसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण के उदात्त आधार पर भारत के निर्माण का कार्य किया है। देश के नवनिर्माण के लिए भारतीयों को कटिबद्ध होना चाहिए, क्योंकि वे सभी भारतीय हैं, इसी धरती के बच्चे हैं और भारतीय ऋषि-मुनियों के वंशज हैं। जैसे हिन्दू के लिए, वैसे ही मुसलमान के लिए भी भारत उसके वंशजों का घर है, उसके साधुओं और फकीरों के रजकण इसी धरती में मिले हैं, यही धरती उनके धर्म और सदाचार का केन्द्र है, उसकी उन्नति में उसकी आशाओं का वास है।

रवीन्द्रनाथ की यह दृढ़ और सच्ची धारणा है कि आधुनिक सभ्यता, धर्म और संस्कृति के भयंकर आक्रमण के विरुद्ध हिन्दू धर्म तभी टिका रह सकता है, जब वह स्वयं अपनी कट्टरता और अन्ध-विश्वासों से छुटकारा पा ले। विशुद्ध और पवित्र आर्य-धर्म, भारत में बाहर से आनेवाली अनेक विचारधाराओं को आत्मसात् कर उन्हें एकता प्रदान कर सकता है। किन्तु यदि वह स्वयं अपने अन्दर पैदा हुई गन्दगी को दूर नहीं करेगा तो वे विचारधाराएं भारतीय आस्था और विश्वास पर छा जायंगी। हमें अब उन पुरानी रूढ़ियों, व्यर्थ की बातों और दकियानूसी सूत्रों से, जो आज भी हमें घेरे हुए हैं, छुटकारा पाना चाहिए। रवीन्द्रनाथ टैगोर का वह आध्यात्मिक धर्म, जिसका आदर्श विशुद्ध हृदय और ऊंचा चरित्र है, जिसका सिद्धान्त ईश्वर के प्रति प्रेम और मानव की सेवा है, वह कभी

[1] 'मॉडर्न रिव्यू', जून १९१३

[2] 'मॉडर्न रिव्यू', दिसम्बर १९१९

भी पंडित-पुरोहितों की कट्टरता, पुराने रीति-रिवाजों, कट्टरपंथी सिद्धान्तों और अंधविश्वासों, असभ्यता और दंभ, जाति, पद और अधिकार के बड़प्पन, वर्ग-विशेष के स्वार्थ और जातीयता के आधार पर राष्ट्रों की श्रेष्ठता से समझौता नहीं कर सकता । भारत की आत्मा को इन पापों से मुक्त कराना होगा ।

(३)

उन बुराइयों में, जो हमारे राष्ट्रीय जीवन के मूल स्रोत को विषाक्त कर रही हैं, प्रमुख जाति-प्रथा है । रवीन्द्रनाथ इसके उद्देश्य को और उन सिद्धान्तों को नहीं भूले हैं, जिन पर यह आधारित है । जब आर्य लोग पहले-पहल भारत आये, तब देश के निवासियों से उनकी मुठ-भेड़ हुई । आर्य लोग आध्यात्मिक प्रेरणा से प्रभावित थे, इसलिए उन्होंने यहां के आदिम निवासियों को जड़ से उखाड़ फेंकने या उन्हें गुलाम बनाने जैसे निकम्मे तरीके नहीं अपनाये, बल्कि उन्होंने आध्यात्मिक एकता और जातीय विभिन्नताओं के आधार पर सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की । जाति-प्रथा की स्थापना सामाजिक एकता के रूप में हुई, जिसमें विभिन्न प्रकार के लोग अपने मतभेदों के रहते हुए भी पूर्ण स्वतंत्रता और आपसी मेल-जोल के साथ रह सकते थे । भारत की सामाजिक व्यवस्था पारस्परिक मेलजोल के आधार पर बनी है, न कि फूट पर । "यूरोप में ऐसा नहीं है, वहां सभी वर्ग अपना-अपना कार्य करते हुए सामाजिक संगठनों को बनाये रखने के लिए सामूहिक रूप से प्रयत्नशील नहीं रहते; इसके विपरीत वे आपस में लड़ते रहते हैं और प्रत्येक वर्ग सदा इस आशंका से घिरा रहता है कि कहीं दूसरा वर्ग उससे अधिक मजबूत न हो जाय । इस प्रकार सामाजिक सामंजस्य की भावना नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है. . .भारत ने ऐसी भावनाओं को समन्वित करने का यत्न किया है, जो एक-दूसरे के विरुद्ध हैं; वह समाज की परस्पर-विरोधी शक्तियों को सीमाबद्ध करता रहा है, और इस प्रकार समाज का एक ऐसा संगठन बनाता रहा है, जिससे एक रहते हुए वह भिन्न कार्य करने में समर्थ बन सके ।"[१] ब्राह्मण वर्ग के लिए उनका मत है कि प्रत्येक समाज में

[१] 'मॉडर्न रिव्यू', सितम्बर १९१७, पृष्ठ ३३७

इस प्रकार का एक वर्ग होना चाहिए। भारतीय समाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण सर्वोपरि हैं, और समाज के नेता माने जाते हैं। यद्यपि भारत अपनी राजनीति के चक्र में कई परिवर्तनों में से होकर गुज़रा, तथापि समाज में भारी परिवर्तन नहीं आये, क्योंकि उसके आदर्श और परम्पराओं को इस वर्ग ने संभाले रखा। ब्राह्मण इसकी परम्परा के ट्रस्टी और उसकी आध्यात्मिक शक्ति के संरक्षक हैं। इस आदर्श के अनुसार ब्राह्मण ग़रीबी को अपना विशेषाधिकार, ज्ञान को अपनी वृत्ति मानते हैं और आत्म-त्याग तथा अनासक्त भाव से आध्यात्मिक आदर्शों का पालन करते हैं। धन की लिप्सा से रहित और निंदा-स्तुति से परे रहकर आध्यात्मिक शक्ति का विकास ही उनके जीवन का प्रमुख ध्येय रहा है।

श्रम-विभाजन को आजकल केवल अर्थशास्त्र में ही नहीं, अपितु समाज-व्यवस्था तथा अन्य बातों में भी, एक प्रबल सिद्धान्त के रूप में मान्यता मिल गई है। यदि हम अपने कपड़े या अपने जूते स्वयं तैयार नहीं कर सकते, यदि विशेष रूप से प्रशिक्षित व्यक्ति इन कामों को हमसे अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं, तो क्यों न हम कलात्मक सुन्दर उत्पादन और आध्यात्मिक खोज के लिए एक वर्ग बना दें? इस वर्ग के लोग कला के उस आनन्द और आध्यात्मिक सौन्दर्य की खोज करेंगे और उसे समाज के सामने प्रस्तुत करेंगे। इस कारण यह वर्ग अपने-आप ही अन्य वर्गों की अपेक्षा ऊंचा मान लिया जाता है, क्योंकि व्यापारी और दूकानदार मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, जबकि इस श्रेणी के लोग आध्यात्मिक स्वास्थ्य और समाज के आनन्द के लिए सामग्री जुटाते हैं। ये समाज के नेता हैं जो उन बातों का नियमन करते हैं जिनसे समाज को सुख मिले और ये समाज के उन लोगों पर बड़ा नैतिक प्रभाव डालते हैं, जो संसार के झमेलों में इतने फंसे हैं कि उन्हें अपने तथा समाज के कल्याण के लिए तथा जीवन में कुछ ऊंची बातों के संबंध में सोचने का अवकाश नहीं। किन्तु इस प्रकार उन्होंने आजकल के पतित और गिरे हुए ब्राह्मण-वर्ग का बचाव नहीं किया है, जिसने भलाई करने के बजाय ईश्वर के नाम पर बहुत बुराई की है। क्योंकि ऐसे ब्राह्मणों ने अपने पुराने आत्म-त्याग और आध्यात्मिकता को खो दिया है, इसलिए वे अन्य वर्गों के आदर-सम्मान के अधिकारी

नहीं रहे हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने बलपूर्वक दूसरे वर्गों पर अपना आधिपत्य जमाया और उन्हें निम्न श्रेणी का बताया। इसी कारण उनका प्रभाव तथा आदर कम हो गया। उन्होंने शूद्रों के मस्तिष्कों को पंगु बना दिया और इसीलिए आज स्वयं उन्हें अपमान मिल रहा है और स्वयं उनके मस्तिष्क कुचले जा रहे हैं। "जब शूद्र ने अपनेको ब्राह्मण से नीचा मानकर आत्म-समर्पण में ब्राह्मण के आगे हाथ जोड़ दिये, उसी दिन ब्राह्मण के लिए गढ़ा खुद गया।"[१] वे पुराने ब्राह्मणों का अधिकार और सम्मान तो चाहते हैं, किन्तु उनके जीवन में वे आदर्श और वह आध्यात्मिक शक्ति नहीं, जिससे वे अपने पूर्वजों की तरह लोगों का आदर पा सकें।

जाति-परम्परा के अनुसार समाज के विभिन्न वर्गों में जो गुण तथा मूल्य रोपित किये गए हैं, उस व्यवस्था के ठीक न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। सर्वोच्च स्थान उस दार्शनिक को दिया गया है, जो सत्य की खोज, कलात्मक रचना और नैतिक प्रयत्नों में अपना जीवन लगा दे। जबतक दार्शनिक के कार्य को सारे समाज की मान्यता प्राप्त है, राजनैतिक स्थिरता और आर्थिक आधार भी सुरक्षित हैं। शांति की सुरक्षा और राजनैतिक व्यवस्था का कार्य क्षत्रिय जाति का है। व्यापार और कृषि-व्यवस्था के लिए भी वर्ग बने हैं। यह एक ऐसी सामन्ती वर्ण-व्यवस्था है, जहां हर कार्य का अपना महत्त्व है और उसका मूल्यांकन धन से नहीं होता, अपितु आत्मा के विकास से होता है। समाज का मान धन के घटने-बढ़ने पर निर्भर नहीं, बल्कि आत्मा की उन्नति पर निर्भर है। हमें मूल्यों के इस प्रकार के निर्णय का त्याग नहीं करना चाहिए। आधुनिक सभ्यता, जो धनवानों की सभ्यता है, व्यक्ति की प्रतिष्ठा को भौतिक द्रव्य से मापती है। इस प्रकार के भौतिक उद्देश्य और आधार से, स्वार्थ और स्पर्धा बढ़ती है। किन्तु भारतीय प्रणाली में संपत्ति के आधार पर सम्मान का कोई विचार नहीं है। विश्वबन्धुत्व और प्रेम ही हमारी वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य है। स्वतंत्रता ही उसका आधार और स्वतंत्रता ही उसका अन्त है। मनुष्य अपने-आप में उद्देश्य है, क्षणिक प्राणी नहीं, जिसे हम जब चाहें उपयोग में लायें और जब चाहें फेंक दें। वर्तमान वर्ग-व्यवस्था का दृष्टिकोण भौतिक है, जबकि वर्ण-

व्यवस्था आध्यात्मिक है। यह अनुभव करने पर कि आधुनिक जीवन का भौतिकवाद अपने अन्दर तुच्छ विश्वास को छिपाये है और मनुष्य की अधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता, हमें वर्ण-व्यवस्था से एक सबक सीखना होगा और प्रेम तथा भाईचारे, स्वतंत्रता तथा साहचर्य के आधार पर आध्यात्मिक सभ्यता का निर्माण करना होगा। इसका यह अर्थ नहीं कि हम भारत में इस समय प्रचलित जाति-प्रथा का समर्थन करते हैं। अपरिवर्तनशील और कट्टर जाति-प्रथा का समय लद चुका और अब उसका अन्त होना ही चाहिए। रवीन्द्रनाथ लिखते हैं, "वर्ण-व्यवस्था ने संकीर्णता और असहिष्णुता से स्वतंत्र होने में अपना पर्याप्त योगदान दिया है, यह हिन्दू धर्म की विशेषता है और इसने विभिन्न संस्कृतियोंवाली जातियों को इतना ही नहीं, परस्पर-विरोधी सामाजिक तथा धार्मिक रीतियों और आदर्शों को भी, एक साथ शान्तिपूर्वक रहना सिखाया है....किन्तु इस मेलजोल ने ही, जो समाज-व्यवस्था के अनुसार किसी भी परिस्थिति को स्वीकार करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है, मनुष्य के निजी व्यक्तित्व को कुचल दिया है और इसी कारण शताब्दियों से हम न केवल किसी भी सत्ता के आगे अपनेको समर्पित करने के आदी हो गए हैं, बल्कि कभी-कभी हम उस शक्ति का सम्मान करने लगते हैं, जिसका हम पर आधिपत्य है। मेरी दृष्टि से भारतीय जनता का पुनर्जन्म, प्रत्यक्ष तथा पूर्ण रूप से इस स्थिति को दूर करने पर ही आधारित है।"[१] जात-पांत की इस प्रथा ने अभीतक एक उद्देश्य की पूर्ति की, किन्तु आज वह मनुष्य की आध्यात्मिक आस्था और बाह्य रूप से सामाजिक उन्नति में निश्चित रूप से बाधक है। जाति-प्रथा जीवन के प्रवाह को समझने में असफल रही है और वह मन के विकास तथा मानवीय गुणों की परिवर्तनशीलता को स्वीकार नहीं कर सकी है। उसे यह समझ में नहीं आया कि "मानव-स्वभाव में जो भेद हैं, वे पर्वतों की तरह अविचल नहीं हैं, वरन् वे जीवन-प्रवाह की तरह गतिमान हैं और अपने पथ, आकार और विस्तार को बदलते रहते हैं।" वर्ण-व्यवस्था की जो आत्मा थी,

---

[१] 'मॉडर्न रिव्यू', अगस्त १९१० और फरवरी १९११

वह मर चुकी है; भारत आज भी जिसकी आदर-सम्मान के साथ पूजा कर रहा है, वह केवल उसका शव है। मनुष्य ने जिस विशाल सामाजिक यंत्र की रचना की थी, वह आज आत्मा को कुचल रहा है। स्वतंत्र विचार-शक्ति और निजी प्रतिभा दब गई है। यदि 'पोस्ट आफिस' के बालक अमल की तरह हम अपने मानस को विकृत कर दें और अपनी स्वतंत्रता को बन्द जेलखाने में सीमित करके संकुचित कर दें और परम्परा-प्राप्त शास्त्र-रूप डाक्टरों से ही दवा लेते रहें तो हम अपने भ्रमों से कभी छुटकारा नहीं पा सकते। जैसे बच्चा बाहर जाने को उत्सुक हो उठता है, वैसे ही मानव-मन स्वतंत्रता के लिए अकुलाता है; किन्तु हमें परमात्मा के प्रकाश और खुली हवा को भीतर आने के लिए अपने बन्द घर के दरवाजे तोड़कर खोल देने होंगे और दीवारें गिरा देनी होंगी, जिससे हम प्रकाश पा सकें।

रवीन्द्रनाथ समय की सामाजिक समस्याओं को आर्थिक अथवा उपयोगितावाद के संकीर्ण दृष्टिकोण से नहीं देखते। वह अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से उन सामाजिक समस्याओं का अवलोकन करते हैं और उन्हें आदर्श के अधिक ऊंचे स्तर पर ले जाते हैं। उनके प्रति उनका व्यवहार जन्म, आदत या शिक्षा द्वारा निश्चित नहीं होता, वरन् आध्यात्मिक दृष्टिकोण द्वारा निश्चत होता है, जो उनके जीवन का प्रमुख सिद्धान्त है तथा जिसके लिए वह अपना सारा जीवन लगा रहे हैं। यदि लोग जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण को अपना लें और मनुष्य में छिपे ईश्वरत्व का आदर करना सीख लें, तो वर्तमान सामाजिक अशांति दूर हो जायगी।

जीवन के भौतिक दृष्टिकोण के कारण हम गरीबी से डरते हैं, किन्तु अध्यात्म-प्रधान राष्ट्रों में गरीबी सामाजिक असंतोष का कारण नहीं है। भारत बहुत गरीब है, किन्तु सदियों के आध्यात्मिक अनुशासन ने भारतीय जनता को इतना नियमन और आत्म-संयम दे दिया है कि यद्यपि भारत में सबसे अधिक गरीबी है, फिर भी अधिक धनवान देशों में सामाजिक असंतोष और संघर्ष भारत से कहीं अधिक है। जब बहुत बड़ा अकाल देश में छा जाता है या प्लेग जैसी महामारी फैलती है, तब भारत के लोग बड़े दीन भाव से उसके आगे

झुक जाते हैं। दुःख और आपत्ति में वे दया की भीख मांगते और प्रार्थना करते हैं, तड़पते और व्याकुल होते हैं और अन्त में रोते हुए, ईश्वर को आत्म-समर्पण करते हुए मूक रहकर ही मर भी जाते हैं। हम भारत में हड़ताल और दंगे, खिड़कियों को तोड़ने और बम गिराने, सामूहिक आन्दोलनों और भूखी स्त्रियों तथा बच्चों द्वारा प्रदर्शनों की बातें नहीं सुनते। उनका विपत्तियों और तकलीफों को शान्तिपूर्वक स्वीकार कर लेना संसार के लिए आश्चर्य की बात है। उनकी आत्मिक सहिष्णुता ईसा के उस महान् बलिदान की याद दिलाती है, जो परिस्थिति और बुराई के थपेड़ों के जवाब में बुद्धमत्ता और दैवी गुणों के अमिट विरोध हैं। जीवन का भौतिक दृष्टिकोण सामाजिक असंतोष का मूल कारण है और उसका समाधान आध्यात्मिकता में है। प्रोफेसर एल० बी० जैक्स कहते हैं—"सबसे अधिक सामाजिक असंतोष सबसे अधिक गरीब देशों में नहीं पाया जाता, बल्कि सबसे धनवान् राष्ट्रों में पाया जाता है....और इसका मुख्य कारण भी व्यक्तियों का यह पारस्परिक वैषम्य नहीं होता कि कुछ व्यक्तियों के पास अधिक है और कुछके पास कम। इसमें शक नहीं कि यह भी एक कारण है, पर यही मुख्य कारण नहीं। इसका मूल कारण यह है कि जिस जाति का लक्ष्य धनोपार्जन है और जो आर्थिक व्यवस्था द्वारा ही उस उद्देश्य को पूरा करने में लगी रहती है, उसके द्वारा उसके किसी भी सदस्य को संतोष नहीं होता, जबकि उस व्यवस्था के विरुद्ध सभी मनुष्य अपने उच्च मानव-स्वभाव के कारण विद्रोही बन जाते हैं।[१] धनी राष्ट्रों की कठिनाइयां उनके अर्थपरायण होने की प्रमुखता के कारण होती हैं। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे आर्थिक कुशलता को अपनाते हैं। अधिक-से-अधिक उत्पादन ही उनका प्रमुख उद्देश्य होता है और मनुष्य उस बड़ी मशीन का एक छोटा पुर्जा बनकर रह जाता है। इस मशीन की वेदी पर मानव की बलि दी जाती है। पुरुष, स्त्री और बच्चों का और आत्मा का वहां कोई मूल्य नहीं होता। आज हम देखते हैं कि लोग इस विनाश के प्रति जागरूक तो हैं, किन्तु संसार की समस्त शुभेच्छाओं

---

[१] इंटरनेशनल क्राइसिस, पृष्ठ ९९

के होते हुए भी वे औद्योगीकरण की कठिनाइयों से छूट नहीं पाते, क्योंकि वे उनको आर्थिक समस्याएं समझते हैं और उनका उपचार भी आर्थिक उपायों में ही खोजते हैं। किन्तु जबतक हम उस आकर्षक आर्थिक चक्र में घूमते रहेंगे, हम इसकी बुराइयों को दूर नहीं कर सकते। बुराइयों के रूप में इनकी निन्दा कराने में प्रमुख कारण आर्थिक पहलू नहीं, वरन् वह है हमारा मनुष्य-स्वभाव। तब हम उससे बड़ा आधार ढूँढ़ निकालते हैं, क्योंकि आर्थिक नीति को उनकी आवश्यकता है, इसलिए हमें उन्हें उचित बताना पड़ता है। इनका एकमात्र हल अधिक ऊंची मानवता और आध्यात्मिक दृष्टिकोण को अपनाकर ही हो सकता है। भारत के पास ये आध्यात्मिक आदर्श थे और आज वह समाज-व्यवस्था को कुछ इधर-उधर बदल देने अथवा कौंसिलों में कुछ अधिक सीटें पा लेने या ग्रामोद्योगों के स्थान पर कुछ अन्य उद्योग खड़े कर देने मात्र से ही अपनी पुरानी कीर्ति तथा भव्यता को पुनः प्राप्त नहीं कर सकता। यदि भारतीय आत्मा स्वतन्त्र हो जाय और वह अपनी आध्यात्मिक प्रतिभा सुरक्षित रक्खे तो उसे अन्य सब कुछ भी मिल सकता है। "तब भारत में प्रान्त से प्रान्त मिल जायगा, जाति का जाति से मेल होगा, ज्ञान ज्ञान से मिलेगा। और सब मिलकर नवनिर्माण के लिए प्रयत्नशील होंगे, तब भारतीय इतिहास का वर्तमान अध्याय पूरा हो जायगा और वह संसार के अधिक महान् इतिहास में प्रवेश करेगा।"[1]

आज के शिक्षित भारतीय रवीन्द्रनाथ के इस आदर्श से सहमत नहीं कि भारत अपनी विशेषता को बनाये रक्खे; वे यह अनुभव करते हैं कि भारत का हल उन्नत राष्ट्रों की नकल करने में है। अपनी चमड़ी बचाने की फिकर में वे यह भूल जाते हैं कि आत्मा की रक्षा ही अन्त में अधिक लाभदायक होगी। यदि शिक्षित वर्ग यह अनुभव नहीं करता तो यह इस बात की निशानी है कि रोग कहांतक फैल गया है और रोगी की दशा कितनी खराब हो गई है। जबतक कोई स्वयं प्राचीन भारत की उस प्रेरणा से परिचित न हो, तबतक उसके लिए यह विश्वास करना असंभव है कि किस हद तक भारत हर प्रकार से भौतिक

[1] दि फ्यूचर ऑफ़ इंडिया

प्रभाव के नीचे दब गया है। ये भारतीय यह कहकर अभिमान करते हैं, कि वे व्यवहारपटु हैं। व्यवहारपटु होने की कितनी बड़ी कीमत आज चुकानी पड़ती है ! इसकी कीमत के रूप में उन्हें अपनी आत्मा देनी पड़ती है। आत्मा को खोकर राजनैतिक सभ्यता के बाह्य रूपों को प्राप्त करने का कोई लाभ नहीं। रवीन्द्रनाथ के अनुसार, नकल हमारी हड्डियों के ढांचे को दूसरे व्यक्ति की चमड़ी से ढंकने के समान है, जो प्रत्येक पग पर चमड़ी और हड्डियों में शाश्वत उपद्रव पैदा करती है।[1] यदि भारत की राजनैतिक मुक्ति उसकी आत्मा को बेचकर प्राप्त होती है तो बेहतर है कि हम इस भौतिक व्यवस्था को छोड़ दें, पर आत्मा की रक्षा करें। तब भारत अपनी आत्म-शक्ति को पुनःस्थापित करेगा। और यदि उसके भाग्य में विनाश ही लिखा है, तो वह उस शान से मरेगा और इस मरण में आत्मा की विजय होगी। "किन्तु हमें दृढ़ रहना चाहिए और साहसपूर्वक सत्य, भलाई, मानव में बसे उस अमर ईश्वर, तथा उस स्वर्ग के लिए, जो हृदयों के मिलन में है, और आत्मा की उस स्वतन्त्रता के लिए सबकुछ सहन करना चाहिए।"[2] इन सब बातों का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि रवीन्द्रनाथ को भारतीयेतर वस्तुओं से कोई सहानुभूति ही नहीं। उन्हें पूरा विश्वास है कि पश्चिमी सभ्यता अन्य सभ्यताओं की तरह ही उस अलौकिक शक्ति की सृष्टि है। केवल उसकी आत्मा की कलम भारतीय आत्मा की कलम में नहीं लग सकती। उग्रवादी सुधारक यह समझते हैं कि यह प्रक्रिया आसान है; क्योंकि वे सोचते हैं कि भारत देश सहसा किसी भूगर्भ-विज्ञान-संबंधी हलचल के फलस्वरूप समुद्र की तह से उभरा है और इसका ऊपरी स्तर मोम जैसा स्वच्छ और चिकना है, जिसपर हर चीज का प्रतिबिम्ब अंकित हो जाता है। किन्तु भारत एक प्राचीन देश है, जिसकी अपनी परम्पराएं हैं। सभी जगह इतिहास में अपनी आध्यात्मिक सभ्यता, आत्मा की महानता, अपनी गहरी पवित्रता, अपने शौर्य-पराक्रम तथा सहिष्णुता और आतिथ्य-सत्कार के लिए

[1] नेशनलिज्म, पृष्ठ ५४

[2] इंडिआज़ प्रेयर

उसका आदर हुआ है। ये सभी गुण प्रत्येक भारतीय के जीवन का अंग बन गए हैं। जो उसके स्वभाव में रम गया है, उसे छोड़ देना संभव नहीं। वह बाह्य को अपनाकर आन्तरिक शक्ति को ही खो सकता है। विदेशी सभ्यता के गुणों की अपेक्षा दुर्गुणों को अपनाना अधिक आसान है। वास्तव में देखा जाय तो पश्चिम के संपर्क ने भारत के धर्म और सादे जीवन को हिलाया है। ईश्वर में उसकी गहरी आस्था, पुण्य और त्याग की उसकी आत्म-शक्ति धीरे-धीरे भौतिकवाद और धन की पूजा के आगे झुक रही है। अदृश्य वस्तुओं के प्रति जो उद्वेग था, उसका स्थान अब धनवान् बनने की भयंकर उत्सुकता ले रही है। जो आंखें स्वर्ग को देखने के लिए बनी थीं, वे अब धूल चाट रही हैं। जो हृदय भगवान् के ध्यान से भरने को था, वह अब आराम और कृत्रिमता पर जमा है। कृति और जीवन के उल्लास को अब छीन-झपट और संग्रह का बुखार चढ़ा है। इस देश के लोग, जिन्होंने गरीबी का कभी तिरस्कार नहीं किया, आज गरीब होने से डरते हैं। वे लोग, जो एक उद्देश्य के लिए आनन्द और शान्तिपूर्वक अपनेको न्योछावर करना जानते थे, आज मृत्यु के डर से पीले पड़ जाते हैं और आत्मा का बलिदान देकर भी जीवन से प्यार करते हैं। उनके मन बौद्धिक भोजन के बिना कुंठित हो रहे हैं। उनकी आत्माएं आध्यात्मिक अकाल से संकुचित हो रही हैं। भौतिक प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ रहा है और भारतीय आत्मा के असली तत्त्व का ही भक्षण कर रहा है।

यदि रवीन्द्रनाथ भारत की राजनैतिक अधीनता के विरुद्ध हैं, तो उसका उद्देश्य किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं। वह पाश्चात्य भावना से डरते हैं, जो भारतीय आत्मा को धीरे-धीरे दबा रही है और उसके जीवन को शुष्क बना रही है। उदाहरण के लिए, पश्चिम द्वारा आज के भारत का दृष्टिकोण कितना बदला है, इसका उदाहरण देते हुए रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि आधुनिक भारत हर प्रकार की सहायता के लिए सरकार की ओर देखता है। यद्यपि बहुत-से आक्रमणकारी भारत पर छा गये, किन्तु भारत के लोगों पर उसका कोई असर नहीं हुआ, क्योंकि वे बहुत-से क्षेत्रों में अपना काम स्वयं चला रहे थे। शिक्षा और सफाई, कृषि और उद्योग सभी विषय

लोगों के नियंत्रण में थे। सरकार नाममात्र के लिए लोगों के ऊपर थी उनका एक अंग नहीं बनी। इसलिए जब-जब सरकार बदली तो लोगं ने उसकी कभी चिन्ता नहीं की। किन्तु आज हर चीज सरकार द्वार दी जाती है। प्रार्थना और आवेदनपत्र, स्मृतिपत्र और प्रस्ताव, आत्मीय विरोध और निरर्थक क्रोध आज प्रतिदिन देखने में आते हैं। राज्य, जं केवल एकता का प्रतीक था, आज सब कुछ बन गया है।

रवीन्द्रनाथ यह अनुभव करते हैं कि उस आध्यात्मिक आदश और भौतिक आदर्श का एक-दूसरे से संघर्ष है, उनके बीच बड़ा अन्त है। पूर्व की सभ्यता, जो धार्मिक है धर्म-निरपेक्ष नहीं, उसे अपनाक हमारे लिए भगवान् के दरबार में प्रवेश करना आसान है। पूर्व ग बिल्कुल ही नहीं, फिर भी मुख्य रूप से संग्रह की अपेक्षा जीवन, बुदि की अपेक्षा आत्मा की आवाज, विज्ञान की अपेक्षा धर्म और आदेश कं अपेक्षा स्वतन्त्रता पर अधिक जोर है। भारत इस आदर्श का प्रतिनि धित्व करता है, इसी कारण रवीन्द्रनाथ भारत के सपूत होने में गौरव का अनुभव करते हैं। "मैं भारत में गरीबी, दुःख और पिछड़ापन हो हुए भी बार-बार यहीं जन्म लूंगा, मैं भारत को सबसे ज्यादा प्रेम करत हूं।"[१]

"मेरा जन्म सार्थक हुआ, क्योंकि मैंने इस देश में जन्म लिया मां, मेरा जीवन सार्थक हुआ, क्योंकि मैंने तुझे प्यार किया!

मैं नहीं जानता कि तेरे पास इतना धन और संपत्ति है या नही जिससे तू रानी बन जाय; मैं तो इतना जानता हूं कि तेरी छाया के तर खड़े होकर मेरे शरीर की सारी थकावट दूर हो जाती है!

मैं नहीं जानता कि किस कुंज में ऐसे फूल खिलते हैं, जिनकं सुगंध आत्मा को पागल बना देती है। मैं ऐसा आकाश नहीं जानता जहां चन्द्रमा ऐसी मधुर मुस्कराहट के साथ उदित होता हो।

मेरी आंखें पहले-पहल तेरे प्रकाश में खुलीं और अन्त में उसं प्रकाश में बन्द होंगी!"

रवीन्द्रनाथ को उनके साथ कोई सहानुभूति नहीं, जो ऐसी ह वस्तु की, जो पुरानी और सुस्थापित हो, खिल्ली उड़ायें, औ तिरस्कार करें और भारत के अतीत को अन्धकार और अकर्मण्यता क

एक लम्बा युग समझें। न ही वे उन लोगों से सहमत हैं जो बड़ी आसानी और लापरवाही के साथ हर पुरानी और परम्परागत वस्तु की पूजा करते हैं और उतनी ही कट्टरता से नई और बिना आजमाई हुई वस्तु से परहेज करते हैं। किन्तु जब शिक्षित भारतीय नवीन प्रवर्तन के प्रवाह में वहकर अपने अधिक सचेत भाइयों की ओर घृणा और तिरस्कार के भाव से देखते हैं और उन्हें प्रगति का शत्रु मानते हैं।...और जब यह प्रवृत्ति अपनी सीमा से बाहर होकर लड़ाकू और आक्रमणकारी बन जाती है, उस समय रवीन्द्रनाथ उन्हें सावधान और शान्त होने तथा धीरज रखने और आत्म-निरीक्षण करने की सलाह देना अपना कर्तव्य समझते हैं; किन्तु वह ऐसे पुराणपन्थी नहीं हैं कि वह किसी भी प्रकार की दकियानूसी चीज को केवल इसलिए कि वह चमकीली और रंगीन है, अपनायें। उनके लिए प्रगति और सुधार का अर्थ है, प्राचीन आदर्शों की सुरक्षा और उन्हींके आधार पर समाज का नवनिर्माण। भारतीयता की रक्षा करते हुए हम पश्चिम में जो भी अच्छा और उत्तम है, उसे ग्रहण कर सकते हैं। रवीन्द्रनाथ प्राचीन और नवीन, पूर्व और पश्चिम की समन्वयात्मक एकता की मांग करते हैं। "यह एक भिखारी की वृत्ति है कि हम अपना फैंक दें और जो विदेशी हैं उसके लिए हाथ पसारें।" और उसके साथ ही "यह गरीबी का क्षुद्र लक्षण है कि विदेशी वस्तु का तिरस्कार कर हम अपनेको छोटा बनाये रक्खें।"[१] रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि "मरे हुए की शरण लेना स्वयं अपनी मृत्यु है और जीवन के लिए आखिरी क्षण तक जोखिम उठाना ही जीना है।"

भारत ने अपनी शक्ति को संभाले रक्खा है, क्योंकि जब भी वह विदेशी सभ्यताओं के संपर्क में आया, उसने अपने बुनियादी आदर्शों को न छोड़कर, उनमें जो भी अच्छाइयां थीं, अपनेमें खपा लीं। हम दूसरों से जोकुछ भी ग्रहण करते हैं, उसे अपने जीवन और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार बना लेना होता है। भारत की अपनी विशेषता, अपना जीवन और अपनी आत्मा है। वह आधुनिक तरीकों और प्रवृत्तियों को एकत्र करने मात्र से नहीं, बल्कि उन्हें अपनेमें खपाकर

---

[१] 'मॉडर्न रिव्यू', फरवरी १९१७

[२] नेशनेलिज्म, पृष्ठ ५३

ही मजबूत और शक्तिशाली बन सकता है। वह जिसपर भी अपना हाथ रखता और जिसे भी स्वीकार करता है, उसपर उसे अपनी प्रतिभा की छाप डालनी चाहिए, अन्यथा उसका कार्य रचनात्मक नहीं, पुनरावर्तन-मात्र होगा। इतिहास के आरंभ से ही आत्मसात् करने की समन्वयात्मक प्रवृत्ति भारत की एक विशेषता रही है। जब आदि आर्य सबसे पहले हिमालय की तलहटी में बसे, तब द्रविड़ सभ्यता बहुत हद तक अपनाली गई। "किन्तु किसीको यह कल्पना करने की आवश्यकता नहीं कि अनार्यों ने भारतीय जीवन के प्रति किसी प्रकार का योगदान ही नहीं दिया है। उनके संपर्क ने हिन्दू सभ्यता के रूप को विविध रंग और उसकी आत्मा को गहराई दी है। द्रविड़ धार्मिकतावादी नहीं था, किन्तु वह कल्पना, संगीत और निर्माण-कला में कुशल था। ललित कला में वह निपुण था। आर्यों के विशुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान और द्रविड़ों के भावुक स्वभाव तथा सौंदर्यशास्त्र के निर्माण की शक्ति के मेल से ऐसा सुन्दर संयोग बना, जो न आर्य रहा और न अनार्य, वह हिन्दू बन गया।"[1] बाद में जब बौद्धमत हिन्दूधर्म से मिल गया, तब भी वही प्रक्रिया हुई। हिन्दूधर्म ने सभी विदेशी प्रभावों को, जो प्रत्येक नये आक्रमण के साथ बाहर से आये, आत्मसात् कर लिया और उन्हें अपने आदर्शों के अनुकूल बना लिया। भारत ने विदेशी प्रभाव का सदा स्वागत किया है। हिन्दूधर्म चिर प्राचीन और चिर नवीन रहा है। वह उत्पादक और रचनात्मक दोनों रहा है। "राष्ट्र के स्वावलम्बन की शक्ति पर आप संदेह न कीजिये, यह निश्चित जानिये कि अब समय आ गया है। याद रखिये कि किस तरह भारत ने सबको मिलाने की अपनी शक्ति को सदा कायम रक्खा है। उसने सदा अनेक कठिनाइयों और संघर्षों के बीच एक सामंजस्य स्थापित किया है और इसीलिए आज भी वह जीवित है। मुझे उस भारत में पूरा विश्वास है। अभी भी वह भारत प्राचीन और नवीन व्यवस्था के बीच धीरे-धीरे मेल बिठा रहा है। हम सबको ज्ञानपूर्वक इस कार्य में लग जाना चाहिए तथा मेरी यह प्रार्थना है कि हम जड़ता

---

[1] 'मॉडर्न रिव्यू', १९१३

अथवा विद्रोह की आड़ में इस प्रवृत्ति का कभी विरोध न करें।"[१] यदि भारतीय राष्ट्रीयता को जीवित रहना है और लकीर का फकीर नहीं बनना तो उसे अपनेको अन्दर से सबल होना चाहिए। उसकी आशाएं उसीके अन्दर निहित हैं। महान् भारत की बुनियाद और आधार उसकी आत्मा के स्वास्थ्य और अपने राष्ट्रीय जीवन के लिए पुनः आत्मविश्वास प्राप्त करने में है। यदि भारत अपनी आत्मा की शक्ति और आध्यात्मिकता को पुनः पा ले, जो उसके जीवन का रहस्य है, तब संसार की कोई ताकत इस नवीन शक्ति पाये हुए भारत के विरुद्ध नहीं टिक सकती। यदि उसकी आत्मा ही रोग-ग्रस्त है तब जर्जरित होकर उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है, भले ही उसे बचाने के लिए हम बाहरी उपाय क्यों न करें; किन्तु यदि उसकी आत्मा स्वस्थ है, तो वह विपत्ति का सामना कर सकेगा, विनाश को रोक सकेगा और सभी बाह्य विरोधों के रहते हुए अपनी प्रतिष्ठा पुनः स्थापित कर सकेगा। उसे दबाने की किसीमें शक्ति नहीं। आत्मा के वेग के विरुद्ध कोई भी शक्ति ठहर नहीं सकती। आदर्शों की शक्ति के साथ किसी भी राष्ट्र की आत्मा को जीता नहीं जा सकता। यदि भारतीयों की आत्मा में यह विश्वास अविचल रहेगा, तो एक दिन भारत का पुनरुदय अवश्य होगा।

उपनिषद् ने कहा है—"बलहीन इस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकते।"[२] आत्मा को स्वस्थ रखना बड़ा कठिन कार्य है। इसके लिए हमें बड़े कठिन समय से होकर गुजरना पड़ सकता है। इसके लिए शायद हमें "अपने माता, पिता, पत्नी और बच्चों को भी छोड़ना पड़े।" जिस ऊंचाई पर हम चढ़ना चाहते हैं, इस भौतिक दृष्टिकोण के साथ वहां पहुंचने में चक्कर आ सकते हैं और वह चढ़ाई हमें भयंकर लग सकती है। हम गिर सकते हैं, —पहली चढ़ाई में तो यह निश्चित है—किन्तु ऐसे पतन भारत की उन्नति के लिए आवश्यक हैं। यह विचार कितना ही भयावह क्यों न हो, असम्भव नहीं है; क्योंकि भारत की आत्मा अभी मरी नहीं है, वह सोई भले ही हो। उसके हृदय की

[१] 'मॉडर्न रिव्यू', जून १९१३

[२] 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'

गति धीमी पड़ती जा रही है, पर अभी वह बन्द नहीं हुई। हमने आध्यात्मिक जीवन की शिखा को इतने वर्षों की मुसीबतों और कठिनाइयों के बावजूद मन्द होते हुए भी अभी जलाये रक्खा है। अध्यात्म के इसी आत्मबल ने, जिसे हमने युगों की सादगी के द्वारा प्राप्त किया है, संसार के बाहरी आक्रमणों से भारतीय सभ्यता को बचाये रक्खा है। ईश्वर अयोग्य राष्ट्रों को रवीन्द्रनाथ टैगोर-जैसे महा पुरुष नहीं देता। उनकी उपस्थिति इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जिन आदर्शों के लिए भारत जीता है, वे अभी ओझल नहीं हुए और उसके गीत मौन नहीं हुए। ऊंचे विचार अभी भी उसे हिला देते हैं और वे उसके जीवन की प्रेरणा तथा कविता के श्वास हैं। रवीन्द्रनाथ को भारत के उज्ज्वल भविष्य में पूरा विश्वास है और वह उस ज्वलंत आस्था से, जो भविष्य-वक्ता को उत्तेजित करती है, प्रेरित होकर कह उठते हैं, "क्या संपूर्ण देश और हमारी जाति के प्रत्येक सदस्य के बीच दैनिक कड़ी जोड़ने के लिए 'पांचजन्य' के महान् विचारों का उपयोग असंभव है? क्या हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने देश के नाम पर एक पैसा या एक मुट्ठी चावल का दान नहीं कर सकता? क्या हिन्दूधर्म हम सबको, जीवन के प्रत्येक दिवस को भारत के प्रति भक्ति के सीधे बन्धन से बांध नहीं सकता? क्या इस स्वर्गीय भूमि भारतवर्ष के साथ, जहां परमात्मा का निवास है, जो प्राचीन ऋषियों की तपस्या-भूमि है और जो हमारे पूर्वजों की पोषक मां है, हमारा सम्बन्ध प्रत्येक को एक निजी नेह की कड़ी से नहीं जोड़ सकता?"[१]

(४)

भौतिकवाद की जो लहर आजकल देश-भर में आई है, उसे रोकने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी शिक्षा के आदर्शों में उचित परिवर्तन करें। आधुनिक शिक्षित भारतीय पश्चिम की एक झूठी नकल-मात्र है। उसकी आवाज केवल एक प्रतिध्वनि है, उसका जीवन एक उद्धरण, उसकी आत्मा केवल मस्तिष्क, और उसकी स्वतन्त्र आत्मा वस्तुओं की दास-मात्र है। रवीन्द्रनाथ इन आधुनिक शिक्षितों

---

[१] 'मॉडर्न रिव्यू', जून १९१३

को देखकर इतने उत्तेजित हो जाते हैं कि वह फूट पड़ते हैं: "हमारा देश वास्तव में भगवान् के भरोसे है। अपनी इच्छाशक्ति को सुरक्षित रखना हमारे लिए वास्तव में कठिन है। वास्तव में हमें कोई सहायता नहीं मिलती। मीलों तक ऐसा कोई नहीं, जिससे बात कर हमें शक्ति मिले। कोई भी व्यक्ति सोचता हुआ, अनुभव करता हुआ या काम करता हुआ नहीं दिखाई देता। किसीको भी महान् प्रयत्नों का अनुभव नहीं और न ही वास्तविक और सच्चे जीवन का। वे खाते-पीते, मौज करते हैं, दफ्तर का काम करते हैं, धुआं उड़ाते हैं, सोते हैं और निरर्थक बातें करके दिन गंवा देते हैं। जब भावना का स्पर्श होता है, तो भावुक बन जाते हैं और जब वे तर्क करते हैं तब उनमें छिछोरापन होता है। आज एक पूर्ण परिपक्व, सुदृढ़ और सुयोग्य व्यक्तित्व की हम चाहना करते हैं, ये सब इतनी तरह की छाया हैं, जो संसार से अछूती रहकर इधर-उधर घूमती हैं।"[1] पश्चिमी शिक्षा की यह उपज मानव-समाज नहीं, उसकी छाया-मात्र है। आधुनिक शिक्षा ने गुलाम मस्तिष्क का विकास किया है। डा० कुमारस्वामी के साथ हम यह कह सकते हैं, "वे कला को संग्रहालय और कलावीथियों में, ज्ञान को पुस्तकालयों तथा पुस्तकों की दूकानों में, धर्म को रविवारीय धर्म-सम्मेलनों और धर्मशास्त्रों में और संगीत को ग्रामोफोन तथा नाटकघरों में खदेड़ देने में सफल हुए हैं।" भारत की प्रगति इतनी मानव-जीवन में नहीं, जितनी नीली पुस्तकों (Blue Books) में दिखाई देती है। शिक्षित भारतीय अपने-आपको सस्ती और कष्टप्रद नकल बनाकर अपने शिक्षा-प्रदाता से बदला ले रहा है। वह मानवता की एक टूटी डाल के समान है, जिसकी कोई जड़ नहीं। सच्ची शिक्षा मानव-स्वभाव की गहराई में से प्रस्फुटित होनी चाहिए, किन्तु आज का शिक्षित भारतीय अपने भूतकाल, अपनी प्राचीन अविस्मरणीय परम्पराओं, प्रेम और संयम से अलग हो गया है जो उसे अपने वंशजों और देश से बांधे रखते हैं। आज जो शिक्षा दी जा रही है, वह मानव को पूर्ण नहीं बनाती। आधुनिक स्कूल एक कारखाने के समान है, "जो एक-सी वस्तुओं

---

[1] 'मॉडर्न रिव्यू', जुलाई १९१७

को गढ़ने के लिए विशेष रूप से बनाया गया हो।"[1] व्यक्तिगत विविधताओं का कोई हिसाब ही नहीं रखा गया। असंख्य प्रकार के मानव-मस्तिष्कों की मानसिक आवश्यकता के लिए एक ही प्रकार की प्रणाली काम में लाई जाती है। आत्मा के विकास या उदार विचार के लिए कोई स्वतन्त्रता नहीं। धार्मिक और कलात्मक तथा नैतिक और आध्यात्मिक पहलू वैज्ञानिक सूत्रों और सामाजिक कानूनों में डूब जाते हैं। मस्तिष्क का यंत्रीकरण और बौद्धिक बीज-भूमि की अनुर्वरता आज की शिक्षा-नीति की निरंकुशता का परिणाम है। बौद्धिक दृष्टि से भी इस प्रणाली से शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति आदर नहीं पाता। हम यह नहीं कह सकते कि उसमें ज्ञान के लिए उत्साह, अपनी संस्कृति के लिए मान, या किसी भी प्रकार के स्वतन्त्र विचार के लिए प्रेरणा होती है। परीक्षाओं की योजनाएं उसके मन को विकृत कर देती हैं। वह सचाई जानने की परवाह नहीं करता, उसे चिन्ता होती है केवल अधिक नम्बर प्राप्त करने की। उसके अध्ययन का प्रमुख ध्येय ज्ञान की प्राप्ति नहीं, परीक्षा में सफलता पाने के लिए ज्ञान प्राप्त करने का होता है। विद्यार्थी-जीवन में ही उसकी दृष्टि अपने भावी जीवन पर होती है और उसकी महत्त्वाकांक्षाएं उसके अध्ययन में बाधा पहुंचाती हैं। वह जानता है कि भारत में केवल क्लर्क और मिस्त्रियों के लिए ही एक धंधा है। यहां बुद्धि के के लिए न कोई बड़ा क्षेत्र है और न ही वह स्वतन्त्रता से सांस ले सकती है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वह अपने-आपको परिस्थितियों के अनुकूल ढालता है।

वर्तमान भारत को उसके महान् साहित्य में छिपी मानव की आत्मानुभूति की गहरी व्याख्या नहीं समझाई जाती। भारतीय वंश-परंपरा के आन्तरिक आध्यात्मिक जीवन के वृत्तों की उपेक्षा होती है। महान् साहित्य के समान कुछ भी ऐसा नहीं, जो शक्ति को जगा दे, आध्यात्मिक प्रेरणा की ज्योति जला दे, और आत्माओं को धनुष की तरह तान दे। भारतीय मन और उसकी कल्पना को उभारनेवाली और स्फुरित करनेवाली, उसके प्राचीन साहित्य से बढ़कर शक्तिशाली

---

[1] पर्सनेलिटी, पृष्ठ ११४

[2] दि स्पिरिट ऑफ़ जापान

और कोई वस्तु नहीं। इससे आधुनिक शिक्षित भारतीय एकदम अनजान है। भारतीय बच्चे अपने अतीत को भूल रहे हैं, और वे अपनी ही प्रकृति को समझने में असमर्थ हैं, "वे उनके प्राचीन इतिहास के शिखरों से बहनेवाले स्रोत को रोके खड़े हैं," और इससे देश के भविष्य को जीवन का वह जल नहीं मिलेगा, जिसने उसकी संस्कृति को सौंदर्य की समृद्धि और शक्ति से इतना उपजाऊ बनाया है।

अतीत में भारत के पास जो आदर्श था, उसे ज्यों-का-त्यों न सही, तत्त्व-रूप में फिर से प्राप्त करना चाहिए। श्रेष्ठ शिक्षा वह नहीं, जो केवल जानकारी दे। सच्ची शिक्षा वह है, जो हमारे जीवन और वातावरण में सामंजस्य स्थापित करे।"[१] "शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सत्य की एकता देना है। पहले जब जीवन सादा था, मनुष्य का अन्य सब बातों में एक-दूसरे से पूरा मेल था। किन्तु जब बुद्धि आत्मा और शरीर से पृथक् हो गई, तब शिक्षा का सारा ध्यान मनुष्य के बौद्धिक और शारीरिक विकास की ओर रहा। हम यह जाने बिना कि इस प्रकार करने से बौद्धिक, शारीरिक और आध्यात्मिक जीवन के बीच तनाव बढ़ता जाता है, अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा दिये चले जा रहे हैं।"[२] किन्तु आध्यात्मिक जीवन का विकास किस प्रकार हो! यह ईश्वर और उसके अस्तित्व के विषय में सुनिश्चित पाठों को पढ़ाकर नहीं, वरन् सबको अपने-आप और अन्त:प्रेरणा से विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता देकर ही हो सकता है। रवीन्द्रनाथ विद्यार्थी की मूल प्रवृत्ति में और आश्रम के वातावरण में विश्वास करते हैं, जहां आध्यात्मिक प्रेरणा जगती है और आध्यात्मिक जीवन का विकास होता है। "प्रत्येक श्वास के साथ हमें सदा इस सत्य का अनुभव करना चाहिए कि हममें परमात्मा का निवास है।"[३] प्राचीन भारत में यह संभव था; क्योंकि आश्रम में जहां एक ही स्थान में घर, विद्यालय, मंदिर और वन सभी कुछ था और जहां के शिक्षक ऐसे थे, जो प्रत्येक क्षण ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव करते थे और उसीके लिए जीते थे।

---

[१] दि स्पिरिट ऑफ़ जापान, पृष्ठ ११६

[२] दि स्पिरिट ऑफ़ जापान, पृष्ठ १२६

[३] दि स्पिरिट ऑफ़ जापान, पृष्ठ १२६

इसलिए उनके विद्यार्थी भी ईश्वरीय सत्ता का अनुभव उसी तरह करते थे, जैसे वे पृथ्वी की हरियाली या आकाश की नीलिमा का। जिस शिक्षा का उद्देश्य आत्मा का विकास और मानव को उसके आन्तरिक संघर्षों से मुक्त करना है, वह जीवन, स्वास्थ्य और आत्मा की बरबादी से, जो देश में प्रतिदिन हो रही है, उनकी आंखें खोलेगी, उन्हें अवसर की संपूर्ण अवसरवादिता का दर्शन करायेगी; और तब हर तरह के अन्याय से लड़ने के लिए हृदय में साहस और मन में शक्ति पैदा करेगी। अपने बोलपुर-विद्यालय में, जो केवल सांस्कृतिक विद्यालय नहीं है अपितु कला और संस्कृति का भी पुण्यधाम है, रवीन्द्रनाथ शिक्षा के आधुनिक प्रयोगों को प्राचीन भारत के आत्मिक संस्कार के आदर्शों से मिला रहे हैं। उनकी दृष्टि से आदर्श विद्यालय एक आश्रम होना चाहिए जहां मनुष्य जीवन के उच्चतम लक्ष्य के लिए एकत्र होते हैं, प्रकृति के शान्त वातावरण में रहते हैं; जहां जीवन केवल ध्यान-धारणा के लिए नहीं, वरन् विविध प्रवृत्तियों से पूर्ण है; जहां लड़कों के मस्तिष्क केवल इसी विचार से नहीं भरे रहते कि राष्ट्र का आदर्श संकीर्ण देशभक्ति को ही प्रोत्साहन करना है और वही उनके लिए स्वीकार करने योग्य है; जहां उन्हें यह अनुभूति होती है कि मनुष्य का संसार ही ईश्वर का साम्राज्य है, जिसकी नागरिकता के लिए उन्हें प्रयत्न करना है; जहां प्रतिदिन सूर्योदय और सूर्यास्त, तारों की मौन दिव्यता का ध्यान रहता है; जहां प्रकृति के खिलते फूलों और फलों के उत्सवों से मनुष्य उल्लसित होता है, और जहां युवा और वृद्ध, शिक्षक और विद्यार्थी एक ही साथ खाना खाते हैं और एक ही साथ आध्यात्मिक जीवन का भोजन भी पाते हैं।"[१]

क्षेत्रीय भाषाएं शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए। यह गंभीरता-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सारे भारत की सामान्य भाषा अंग्रेजी हो। यदि यह संभव भी हो तो भी वांछनीय नहीं है। हम अंग्रेजी भाषा में किसी महान् साहित्य के विकास की बात नहीं सोच सकते। वर्तमान शिक्षित वर्गों की बहुत-सी कृत्रिमता और उनमें अत्यधिक खपा लेने की प्रतिभा होते हुए भी मौलिकता का जो अभाव है, वह दो भाषाओं

१। द स्पिरिट ऑफ़ जापान, पृष्ठ १४८

में विचार करने की त्रुटि के कारण है। "हमारी आज की विदेशी शिक्षा केवल स्कूल या कालेजों की शिक्षा बनकर रह जाती है। वह 'साइनबोर्ड' की तरह टंगी रह जाती है, हमारे जीवन का एक अंग नहीं बन पाती या फिर हमारी नोटबुकों में लिखी रह जाती है, विचार और क्रिया में नहीं समा पाती।"[१] रवीन्द्रनाथ सोचते हैं कि प्रारंभिक वर्षों में अंग्रेजी सीखने पर जोर देना, समग्र शिक्षा-पद्धति की जड़ को ही काट देना है और इससे बच्चे अपने दैनिक जीवन में प्रफुल्लता के बजाय थकान और नीरसता का अनुभव करने लगते हैं। वह कहते हैं, "शिक्षा को जहां तक हो सके, भोजन की प्रक्रिया की तरह अपनाना चाहिए। जब पहले ही कौर में स्वाद आने लगता है, तब पेट भरने से पहले ही वह पाचन-क्रिया के लिए तैयार हो जाता है और इस तरह पाचन-यंत्र अपना काम पूरी तरह करता है। किन्तु जब बंगाली बच्चे को अंग्रेजी में शिक्षा दी जाती है, तब ऐसा नहीं होता। पहला ही कौर मुंह में जाते ही दोनों जबड़ों को हिला देता है, मानो मुंह में भूकम्प-सा आ गया हो, और जबतक उसे पता लगता है कि जो उसने मुंह में डाला है पत्थर नहीं, सुपाच्य खाद्य पदार्थ है, तबतक उसकी आधी उम्र बीत चुकी होती है। आरंभ में व्याकरण और स्पैलिंग से जी घुटता रहता है और सारा समय इन्हींसे जूझने में बीतता है और आन्तरिक ज्ञान की दृष्टि से वह भूखा रहता है। जब अन्त में भाषा में उसकी रुचि पैदा होती है, तबतक उसकी भूख मिट गई होती है। यदि आरंभ में मन पूरी तरह काम नहीं करता, तो मानसिक शक्तियां सदा के लिए अविकसित रह जाती हैं।"[२] कविवर ने अपनी सारी कृतियां पहले बंगला में लिखीं और उसके बाद उनमें से कुछ का अनुवाद अंग्रेजी में किया। अंग्रेजी उनकी दूसरी भाषा थी, किन्तु हमारे स्कूलों में क्षेत्रीय भाषा दूसरी भाषा है। चूंकि क्षेत्रीय भाषाएं शिक्षा का माध्यम नहीं, अतः शिक्षित और अशिक्षित के बीच खाई बन गई है। अंग्रेजी शिक्षा ने एक उच्च शिक्षित वर्ग को जन्म दिया है, जो जनसाधारण के दृष्टिकोण से एकदम अपरिचित है। इस शिक्षा ने उन्हें विचार दिये हैं, जिन्हें वे

[१] रेमिनिसेन्सिज, पृष्ठ ५९
[२] 'मॉडर्न रिव्यू', अक्तूबर १९१७

पूरा नहीं कर सकते, क्योंकि वे नहीं जानते कि उन्हें पूरा किस प्रकार किया जाय। यह अभियोग कि यह शिक्षित वर्ग भारतीय जनता का सच्चा प्रतिनिधि नहीं, निराधार नहीं कहा जा सकता। शिक्षित लोग यह अनुभव करते हैं कि वे पृथक् वर्ग हैं। उनके परम्परागत विचार अस्थिर और धार्मिक धारणाएं शिथिल हैं। उनमें 'यूरेशियन' मनोवृत्ति आ गई है, यद्यपि हमारे जनसाधारण हिन्दुस्तानी हैं। कांग्रेस और सभाओं में अंग्रेजी भाषा प्रमुख होती है। अंग्रेजी जाननेवाले व्यक्ति के साथ अच्छा और आदरपूर्ण व्यवहार होता है। सरकार को आवेदन-पत्र देने में वे बहुत कुशल हैं, किन्तु अपने देशवासियों में उद्देश्य, इच्छा और भावना की एकता जगाने में जो राजनैतिक प्रयास के लिए अधिक आवश्यक है, वे इतना उत्साह नहीं जताते। लोगों के हृदय को स्पर्श करने का सच्चा रास्ता यही होगा कि क्षेत्रीय भाषाओं को ज्ञान के विस्तार का साधन बनाया जाय। भारत के हर कोने में इस शुभ समाचार को पहुंचाने का एकमात्र यही उपाय है। यदि हम पवित्र संस्कृत भाषा और भारत की अन्य सुन्दर भाषाओं को सुरक्षित नहीं रक्खेंगे, और उपयोग द्वारा उनका विकास नहीं करेंगे, तो उच्च भारतीय जीवन के स्रोत ही सूख जायंगे।

कला और उद्योग, सौंदर्य और उपयोग के पुनर्जीवन के लिए धार्मिक भावना के पुनरुद्धार की आवश्यकता है। मशीनें भारतीय उद्योगों का स्थान ले रही हैं। यद्यपि रवीन्द्रनाथ मशीनों की स्थापना के विरुद्ध नहीं हैं, फिर भी जिस भावना से उनका उपयोग होता है और इसके जो परिणाम होते हैं, उसकी वह निन्दा करते हैं। 'एक संपूर्ण संकल्प' (ए रिजोल्व एकाम्पलिश्ड) की कहानी में मशीन द्वारा हाथकरघे का स्थान ले लेने के सम्बन्ध में जो लिखा गया है उसके संदर्भ में वह इस प्रकार कहते हैं, "किन्तु कुछ दूषित आत्माओं ने, जो मानो समुद्र की लहरों से उठ खड़ी हुई हों, बेचारे करघों पर अंगारे बरसा दिये। उन्होंने गरीब बुनकरों को भूखों मार डाला और उस समय जो मशीनों से सीटी बजती थी, वह उनकी करुण दशा पर हँसती और अपनी विजय मनाती थी।"[1] जबकि उन्हें यह विश्वास है कि भारत में

[1] रजनीरंजनसेन, ग्लिम्पसेज ऑफ़ बंगाल लाइफ

औद्योगीकरण होना चाहिए, वह मानते हैं कि भारत में औद्योगीकरण की बुराइयों का प्रवेश नहीं होना चाहिए। वह समझते हैं कि पूर्वीय विचारधारा का पश्चिमीय सभ्यता के यंत्रवाद से मेल हो सकता है।"

"पूर्व में हमने भौतिकवाद की अवहेलना का प्रयत्न किया, भूख और प्यास की परवाह नहीं की ताकि उनके अत्याचारों से बच सकें और अपना उद्धार कर सकें; किन्तु अब वह कम-से-कम सारे राष्ट्र के लिए तो संभव नहीं। पश्चिम में आपने भौतिक जगत् पर विजय पाने का निश्चय किया है, और विज्ञान का पवित्र कार्य सभी मनुष्यों को उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भरपूर साधन जुटाने में समर्थ बनाना है और भौतिकता को अपने अधीन करके आत्मा की स्वतन्त्रता प्राप्त करना है। पूर्व को भी उसी रास्ते पर चलना होगा और अपनी सहायता के लिए विज्ञान का सहारा लेना होगा।"[1]

हमें जिस बात से अपने-आपको बचाना है वह है कला को उद्योग से अलग करने की लालसा। हमें यह देखना चाहिए कि कहीं हम मशीन के कारण अपने आत्मिक और चारित्रिक विश्वास को न खो बैठें। यदि हम कला को उद्योग से और धर्म को जीवन से विलग करने की पश्चिमी प्रवृत्ति की नकल करेंगे, तो भारत को औद्योगीकरण के इस युग की बुराइयों को सहना होगा, जो उसके भारी हाथों द्वारा पुरानी कड़ियों को तोड़कर नई जंजीरों को निमंत्रण देना-जैसा होगा। गन्दी बस्तियों का जघन्य जीवन, बेकारी, श्रम के लंबे घंटे, और शराबखोरी––सभीका भारत की भूमि पर आगमन होगा। किन्तु यदि भारतीय दृष्टिकोण अपनाया जाय कि आर्थिक, बौद्धिक और सामाजिक सभी प्रकार के जीवन में धार्मिक भावना का प्रतिबिम्ब पड़े तो कला और उद्योग साथ-साथ चलेंगे और भारत निर्जीव कलाविहीन औद्योगीकरण से बचा रहेगा। प्राचीन भारत में मनुष्यों ने जोकुछ भी बनाया, वह कुशलतापूर्वक बनाया और अपने आपको भूलकर बनाया; क्योंकि परिश्रम का आनन्द वे जानते थे, ऐसा परिश्रम, कला ही जिसकी अभिव्यक्ति है। तब सभी कामों में उत्पादक शक्ति और अभिव्यक्ति की इच्छा को परितुष्टि मिलती थी।

[1] लेक्चर्स इन अमेरिका

अब वे जीवन का आनन्द भूल गये हैं। उनके व्यवहार का अत्यधिक भद्दापन और कला की पशुता मन की गलत स्थिति के परिचायक हैं। वह इसलिए होता है, क्योंकि जो काम एक मजदूर करता है, वह उसकी रुचि के अनुकूल नहीं होता, क्योंकि उसमें उसका मन और उसकी बुद्धि का उपयोग नहीं होता, उसकी आत्मा का हनन होता है, उसका जीवन कटु बन जाता है और उसकी क्षमता क्षीण हो जाती है। आधुनिक भारतीय कला की आलोचना करना व्यर्थ होगा। हमें वर्तमान जीवन और समाज की स्थितियों की आलोचना करनी चाहिए, जिन्होंने इसे संभव बनाया है। यदि गर्मी और धूल पक्षियों के उन्मुक्त गाने में बाधक होते हैं तो हम पक्षियों को दोष नहीं दे सकते। इसमें संदेह नहीं कि ब्रिटिश सरकार प्राचीन स्मारकों इत्यादि को सुरक्षित रखने के लिए बहुत-कुछ कर रही है, किन्तु इस तरह वे जड़ वस्तुओं को सुरक्षित रखने का यत्न कर रहे हैं; जबकि उन मस्तिष्कों को, जो उन्हें बना सकते हैं, प्रोत्साहन नहीं देते। ज्वाला को बुझाकर उसकी राख को संग्रहालय में संगृहीत करते हैं। सजीव आस्था और राष्ट्रीय भावना का धीरे-धीरे ह्रास हो रहा है। उत्पादक कल्पना को, जिसपर कला का विकास निर्भर है, बुद्धि के असंतुलित विकास ने मौन कर दिया है, जो थोथे सूत्रों और शुष्क धारणाओं में ही प्रकट होती है। आधुनिक शिक्षा द्वारा प्राप्त बौद्धिक उत्तेजना उसे जीवन प्रदान नहीं करती है। उसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य का मन भौतिकवादी और उसके जीवन का दृष्टिकोण व्यापारी बन जाता है। सौंदर्य, जीवन और आत्मशक्ति का स्थान सस्तेपन, उपयोगिता और व्यापारी मनोवृत्ति ने ले लिया है। किन्तु यदि धार्मिक भारतीय यह याद रखें कि उद्योगों में भी जीवन होना चाहिए, मिलों और कारखानों की बनी चीजें केवल उपयोगी ही नहीं, सुंदर भी होनी चाहिए और वे शरीर की भौतिक आवश्यकताओं को ही संतुष्ट न करें, बल्कि आत्मा की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करें, तब कला राष्ट्रीय जीवन की प्रेरणा का स्थान ले सकेगी और उसमें सौंदर्य भर सकेगी। विलियम मौरिस का कथन है, "मैं आपसे यह विश्वास करने के लिए कहूंगा कि प्रत्येक वस्तु जो उस वातावरण को, जिसमें हम

रहते हैं, बनाने के लिए बाहर जाती है, या तो सुंदर होनी चाहिए या भद्दी, ऊंचा उठानेवाली होनी चाहिए या हमें गिरानेवाली। या तो उसके बनानेवाले को उसे बनाने में थकावट और बोझा महसूस होना चाहिए या आनन्द और सान्त्वना मिलनी चाहिए।" मनुष्य की यह धारणा सामान्य अन्तःप्रेरणा होती है कि वह उन वस्तुओं से घिरा रहे, जिनसे वह आनन्द प्राप्त कर सकता हो और जिनसे वह संतुष्ट होता हो; किन्तु अब हम ऐसी उपयोगी वस्तुओं से घिरे होते हैं, जो आंखों को चुभती हैं। उद्योग का उद्देश्य कलात्मक उत्पादन का होना चाहिए जो मानवात्मा की स्वतंत्रता और उत्पादनशक्ति की उन्मुक्त अभिव्यक्ति को लिये हो। प्रत्येक कर्मकार को यह महसूस होना चाहिए कि उसका कर्तव्य उस वस्तु को उपयोग करनेवाले की केवल शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं, उसके आध्यात्मिक कल्याण के प्रति कुछ योगदान देना भी है। तभी हम जीवन में काम के महत्त्व को समझ सकते हैं। तब श्रम आनन्द, आशा और विश्वास के साथ हो सकेगा और आत्माभिव्यक्ति का कारण बनेगा। अपनी उत्पादक प्रेरणा को काम में लाकर उसके लिए काम नीरस होने के बदले आनन्द और मनोरंजन का साधन बन जायगा। संस्था आत्मा के हनन के बदले आन्तरिक सौंदर्य को प्रकट करेगी, "क्योंकि सौंदर्य की लय अन्तरात्मा है, जबकि उसका बाहरी स्वरूप है संस्था।"[१]

आधुनिक भारतीय जीवन में कला के महत्त्व को भूल रहा है। कला जीवन के बंधे-बंधाये ढर्रे से मुक्त करानेवाली महान् वस्तु है। यह हमें बाहरी प्रभावों से अछूता रखती है। वह हमें उस पर्दे को चीर अंदर झांकने को बाध्य करती है, जहां वह शाश्वत हमारे अन्दर छिपा है। वह हमें उसका दर्शन कराती है। आज की कला, जिसपर भौतिकवाद का धक्का लगा है और जिसमें उस शान और गरिमा की कमी है, आज के युग का दर्पण है, जिसका कोई केन्द्रबिन्दु नहीं, कोई स्थायी मूल्य नहीं, जो इस बुद्धिमूलक प्रवाह का विरोध कर सके या

[१] दि स्पिरिट ऑफ़ जापान

उसे रोक सके। पाशविक आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त आधुनिक भारत का जीवन सामाजिक सफलता और आर्थिक समृद्धि के लिए उत्सुकता और सतत संघर्ष का जीवन है। जीवन में विक्रान्ति का कोई स्थान नहीं, महत्त्वाकांक्षा और लालसा के कारण केवल अनथक प्रयत्न करते रहना है। जीवन काम के अत्यधिक भार से दबा हुआ है। मनुष्य के पास पाशविक आनन्द के लिए तो समय है, किन्तु आध्यात्मिक उल्लास के लिए नहीं। यदि वह किसीकी पूजा करता है तो वह है अर्थ, जिसे वह देवता मानता है। वह समझता है कि केवल वही उसके जीवन को जीने-योग्य बनाता है। कला से अर्थ को अधिक मूल्यवान् मानकर वह यथार्थवाद के संसार में रहता है और आदर्शों को भूल जाता है। वह अपने ही घर में अजनबी बन जाता है। क्या इन परिस्थितियों में महान् कला का जन्म हो सकता है! जल्दबाजी और शोरगुल के वातावरण में कला का निर्माण हो सकता है! भारत की गरीबी एक दूसरी बाधा है। यदि हम खेल सकते हैं तो हमें काम करना छोड़ देना चाहिए; यदि हम अच्छी जिन्दगी बसर कर सकते हों, तो हमें जीवन के विषय में चिन्ता करना छोड़ देना चाहिए। जब हम जीवन के अभावों और चिन्ताओं से इतने ग्रस्त हों तब अपने दृष्टिकोण और सतत यौवन को ताजा कैसे रख सकते हैं! जीवन के झंझटों में उलझकर, मनुष्य उस अदृश्य के विषय में क्षणभर सोच भी नहीं सकता, जो जीवन का मूल है। घड़ी की तरह बन जाता है, उस मशीन-जैसा हो जाता है, जो एक चालक शक्ति से चलती है और जो शीघ्र ही भुखमरी से बचने के लिए या सामाजिक मान्यता प्राप्त करने के लिए किये गए उद्योग के कारण थककर चकनाचूर हो जाती है।

यह कहा जाता है कि भारत प्रगति कर रहा है। यह स्वीकार किया गया है कि हमारे यहां अव्यवस्था और अराजकता, ठगी और डाका तथा पाप और खून-खराबी[१] बहुत कम परिमाण में है। किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि नैतिकता के सही शब्द की दृष्टि से हमारी

---

[१] लैक्चर्स एण्ड ऐसेज़, पृष्ठ १७१

उन्नति सच्ची है। सीले ठीक ही कहते हैं: "एक नगर जहां चित्र-दीर्घाएं, थिएटर और सुन्दर भवन न हों, जहां कोई काव्य की रचना न करता हो या उन्हें न पढ़ता हो, अथवा जहां साहित्यिक चर्चा न होती हो, मैं कल्पना करता हूं कि वह एक वीरान, उदास स्थान से भी कहीं बदतर होता होगा। इस दृष्टि से सामान्यतया शायद उसका अनैतिक स्थान होना आवश्यक नहीं। यह आवश्यक नहीं कि उसमें चोरी और खून-खराबी की जो वारदातें होती हों, वह उतने ही बड़े किसी अन्य नगर की अपेक्षा अधिक हों। किन्तु ऊंची दृष्टि से मैं समझता हूं कि वह अनैतिक होना चाहिए, उसका स्तर बहुत निम्न माना जायगा, वहां जीवन नीरस होगा और गुण शिथिल पड़ जायगा, अर्थात् प्रगतिहीन बन जायगा।"[१] आज भारत के अनेक हिस्सों में जिन्दगी इस प्रकार मलिन, तुच्छ और आनन्द-विहीन है। जीवन और कला के पुनर्जीवन के लिए धार्मिक संचलन की आवश्यकता है। धर्म जीवन का श्वास है, और धर्म के साथ सम्मिश्रित कला महान् है। भारत एक सुन्दर देश था, क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु, उसके आकार, अभिव्यक्ति और गति में परमात्मा के दर्शन करता था। यदि यह भावना पुनर्जीवित कर ली जाय, तो संपूर्ण जीवन एक ऐसी कला बन जायगा, जो सभी ओर से कलात्मक संभावनाओं के विकास के लिए हमें बाध्य करेगा।

(५)

हमारी उन राष्ट्रीय त्रुटियों में, जो भारत को उसकी उच्चतम मंजिल तक पहुंचने से रोकती हैं, अतिरंजित अलौकिकता की भावना और भाग्यवादिता है? यह पहले ही लिखा जा चुका है कि भारत की महान् आत्माएं कैसे संसार की व्यावहारिक बातों की चिन्ता किये बिना, दत्तचित्त होकर आध्यात्मिक जीवन का विकास करती थीं। वे भूल जाते हैं कि मानवीय साहचर्य ही मनुष्य को परमात्मा का सच्चा ज्ञान करा सकता है। "आनन्द और व्यथा में मैं मनुष्य की शरण नहीं लेता, पर तेरी शरण में आता हूं।"[१] रवीन्द्रनाथ चाहते हैं कि जीवन की कला में हम व्यापक सामंजस्य और व्यापक व्यक्तित्व की भावना

[१] गीतांजलि, पृ० ७७

को अपनायें, न कि एकांगी विरोधों को। तपश्चर्या और हठयोग ईश्वर की निन्दा करने के समान है, जो सभी प्राणियों का रचयिता है। अपमानित प्रकृति हमसे बदला लेती है। अवकाश और सहज ध्यान तथा भक्ति के जीवन से बढ़कर बलिदान का जीवन है। इमर्सन के साथ हम कह सकते हैं, "हमारा हाथ सदा कर्म के जगत् में होना चाहिए और हमारा सिर झंझावात से ऊपर।" "प्रभो, हमें प्रेम करने, पूर्ण प्रेम करने और अपने जीवन के सुख-दुःख से, उसके लाभ-अलाभ से, उसके उतार-चढ़ाव से प्रेम करने की शक्ति दो! हमें बल दो कि हम संसार को देख और सुन सकें और उसमें पूरी शक्ति के साथ काम कर सकें!"[1]

मध्ययुगीन भारत में, धर्म बहुत हद तक एक ऐसा मादक द्रव्य, एक ऐसी शक्ति था, जिससे मनुष्य अपने दुःख भूल जाते थे। रवीन्द्रनाथ संसार से पलायनवाद की प्रवृत्ति का विरोध करते हैं—

"नहीं, मेरे मित्रो, मैं घरबार छोड़कर कभी जंगल के एकान्त में वास करने नहीं जाऊंगा। ऐसे एकान्त में, जिसके प्रतिध्वनि पैदा करने-वाले कुंजों में आनन्द की किलकारियां नहीं गूंजतीं, जहां केसरी ओढ़नी के आंचल हवा में नहीं उड़ते, और जहां की एकान्त शांति मेरे कान में चुपके-से कुछ नहीं कहती, वहां मैं कभी नहीं जाऊंगा।

मैं कभी संन्यासी नहीं बनूंगा।"[2]

रवीन्द्रनाथ के अनुसार, धर्म प्रतिदिन के जीवन की प्रेरणा बन जाता है। वह उन लोगों को एक शक्ति प्रदान करता है, जो संसार में अन्याय से लड़ते हैं। उनका वैराग्य ऐसा झूठा आकारविहीन और नकारात्मक नहीं, जो बहुत समय से भारत में प्रचलित था। उनका वैराग्य तो साधु पुरुष की उस कठिन तीव्र तपस्या की तरह है, जो अपनी सौंदर्य-दृष्टि से इसी धरती पर अधिक अच्छे संसार को, उसे त्याग करके नहीं, उसीमें रहकर और कष्ट उठाकर, संघर्ष करके, सफलताओं द्वारा और मानवता के कल्याण के लिए काम करते हुए, उसे उज्ज्वल बना देता है।

---

[1] साधना, पृष्ठ १३३

[2] गार्डनर, पृष्ठ ७८

कर्म में विश्वास को भाग्यवाद की परिभाषा मानकर भारतीयों ने अपनी अन्तःस्फूर्ति, लगन और प्रयत्न को खो दिया है। किन्तु कर्म मानव के अतीत का नाममात्र है और आत्मा के रूप में मानव का उसपर अधिकार है :

भाग्य की तरह मुझे आगे कौन धकेलता है,
मैं स्वयं अपनी पीठ पर सवार होकर लम्बे डग भर रहा हूं।[१]

अपने अतीत के प्रभाव से मनुष्य विधि की ओर अनिवार्य रूप से बढ़ता है। किन्तु मनुष्य अपने कर्मों की अपेक्षा अधिक बलवान् है। जबकि उसका शरीर और संपत्ति कर्म या आवश्यकता के कानून के अधीन हैं, मनुष्य का मन स्वतन्त्र है। जबतक वह व्यर्थ की आशाओं और भय की दया पर जीता है, जबतक वह अपने-आपको सृष्टि से, जिसका वह अंग है, अलग मानता है और अपने हित को उससे अलग समझता है, तबतक वह बंधन में फंसा रहता है। जब विश्व में अपने स्थान को वह जान लेता है और अपने जीवन में उसका अनुभव करता है, तब वह स्वतन्त्र हो जाता है। उसकी स्वतन्त्रता उसकी निःस्वार्थता के अनुपात से घटती-बढ़ती है। मनुष्य में दिव्यता की चमक उसकी स्वतन्त्रता और रोमां रोलां के शब्दों में, "भाग्यवाद, संकल्प-रहित आत्माओं का एक बहाना-मात्र है।" रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—"संभव असंभव से पूछता है—'तेरा निवास-स्थान कहां है?' उत्तर मिलता है—'नपुंसकों के स्वप्नों में।"[२] मनुष्य अपनी आत्मा का कप्तान है, और सभीको कर्मों का फल मानकर प्रयत्न छोड़ देना मूर्खता है।

रवीन्द्रनाथ हमें भारतीय आत्मा की महान् शक्तियों को अधिक ऊंचे उद्देश्य में लगाने को कहते हैं। संसार की सब शक्तियों में सबसे महान् वे हैं, जिनका वास जनता के हृदय और चरित्र में होता है। वह भारतीयों को अपनी समस्त शक्तियों को झूठे वैराग्य और भाग्यवादिता के वश में न करके देशहित में लगा देने का आवाहन करते हैं।

(६)

भारत की राजनैतिक स्थिति के विषय में रवीन्द्रनाथ के विचारों

---

[१] स्ट्रे बर्ड्स,

[२] स्ट्रे बर्ड्स, १२९

को बताये बिना यह रेखाचित्र अधूरा रह जायेगा। अच्छी सरकार के सभी लाभ होते हुए भी भारत स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स्वतन्त्रता का अर्थ जीवन से अलगाव या सामर्थ्य का दमन नहीं, वरन् आत्मा की उन्नति, व्यक्तित्व का विकास और जहांतक हो सके सामर्थ्य तथा इच्छा का विस्तार है। यह तभी हो सकता है जब हमारी अपनी सरकार हो, क्योंकि "स्वाधीनता मानव का सबसे बड़ा अधिकार है।"[1] किन्तु भारत, "जो स्वाधीनता के अनुशासन और आत्म-रक्षा के साधनों से वंचित है", स्वतन्त्र नहीं है।[2] भारत की वर्तमान स्थिति का जिम्मेदार जितना ब्रिटेन है, उतना ही वह स्वयं है। इतिहास का तर्क भी एक वस्तु है। संसार अन्धी असंगति के हाथ में नहीं है। यदि राष्ट्र को कष्ट सहन करना पड़ता है, तो वह अकारण नहीं। भारत का पतन औसत भारतीय के संकुचित दृष्टिकोण के कारण हुआ है। जात-पांत के झगड़े, घृणा और तिरस्कार, पैतृक जमीन पाने की वृत्ति और देश की आध्यात्मिक संपत्ति का विनाश, सभीने भारत के पतन में सहयोग दिया है। लोगों ने अपनी समृद्ध आध्यात्मिक विरासत छोड़ दी और वे अत्यधिक स्वार्थी बन गए, जिसका परिणाम है वर्तमान दुर्गति। भारत जबतक अपनी भौतिकता और स्वार्थ नहीं छोड़ देता, वह स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर सकता। "जबतक हम व्यक्तिगत या सामूहिक अज्ञान के कारण अपने देशवासियों के साथ मनुष्यता का व्यवहार नहीं करते, जबतक हमारे जमींदार अपने काश्तकारों को भी अपनी संपत्ति का अंग मानेंगे, जबतक बलवान् कमजोरों को कुचलना जन्मसिद्ध अधिकार मानते रहेंगे, ऊंची जातियां नीची जातियों को जानवर से भी बदतर मानती रहेंगी, यही नहीं, जबतक हम अंग्रेजों द्वारा सद्व्यवहार के अधिकारी नहीं बनते, और जबतक हम अपने में अंग्रेजी नैतिक चारित्र्य को जगाने में असफल रहेंगे, तबतक भारत अपने अधिकार से वंचित रहेगा और अपमान सहता रहेगा।"[3]

---

[1] 'माडर्न रिव्यू', सितम्बर १९१७

[2] साधना, पृष्ठ १०९

[3] दि फ्यूचर ऑफ़ इंडिया

राष्ट्रों के सबसे बड़े शत्रु उनके विदेशी दुश्मन नहीं, वरन् वहां के समाज में पायी जानेवाली दुष्प्रवृत्तियां हैं। राष्ट्रों को इनसे बचना चाहिए। भारत की उन्नति में वास्तविक बाधाएं उन भागों में है जहां ब्रिटिश सरकार की कोई सत्ता नहीं। अन्धविश्वास, रीति-रिवाजों की रूढ़िवादिता, मूर्तिपूजा और संघर्ष को जन्म देनेवाली प्राचीन रीतियां, भारत के आधुनिक अधःपतन का कारण हैं। भारत पराधीन देश क्यों है और साझेदार क्यों नहीं? गुट से बाहर व्यक्तित्व रक्खे बिना वह गुट में क्यों शामिल है? ब्रिटिश साम्राज्य के देशों में उसकी स्थिति एक अछूत के समान क्यों है? इन प्रश्नों के उत्तर में टैगोर स्वयं यह पूछते हैं, "हमने अपने देश में चार करोड़ हरिजनों को दबाकर क्यों रक्खा है? वे हिन्दू होते हुए भी हिन्दू-समाज से बाहर क्यों हैं? हम उन्हें अछूत क्यों मानते हैं? भारत अपने पुराने कर्मों का फल भोग रहा है। जैसा व्यवहार भारत अपनी दलित जातियों से करेगा, वैसा ही व्यवहार विजेता राष्ट्र भारत से करेंगे। जबतक हमारे देश से जातपांत की भावना और धार्मिक दंभ मिट नहीं जाते, तबतक बाहरी संसार में हमें वर्णभेद और जातीय द्वेष के विरुद्ध शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं।

"जबतक हम अपने समाज में निरंकुशता को सहन करते हैं, तबतक हमें पूर्ण राजनैतिक स्वतन्त्रता मांगने का कोई अधिकार नहीं। मानव-जीवन को टुकड़ों में नहीं काटा जा सकता। हम यह नहीं कह सकते हैं कि धार्मिक मामलों में हम स्वाधीन होंगे, राजनैतिक स्वाधीनता के लिए लड़ेंगे, किन्तु सामाजिक जीवन में गुलाम बने रहेंगे। ईश्वर सदियों तक राष्ट्रों को यातनाएं देकर उन्हें अपनी आत्माओं का उद्धार करने में सहायता करता है। यद्यपि तारे सदा आकाश में रहते हैं, पर मनुष्य उन्हें केवल रात को देख पाता है। भारत की इस समय जो दुर्गति हो रही है, वह शाश्वत तारों को देखने में उसकी सहायता करेगी। वे जैसे आकाश में चमकते हैं, वैसे ही लोगों के दिलों में चमकेंगे। भारत को व्यापार, विलासिता और ऐश्वर्य के झूठे देवताओं से हटाकर ईश्वर की ओर प्रवृत्त करने के लिए विपत्तियों से होकर गुजरना आवश्यक है। शताब्दियों से चले आये भ्रष्टाचार का मूल्य भारत को इन यातनाओं द्वारा देना होगा। इनके द्वारा भारत की

आत्मा उज्ज्वल बन रही है और उसका उद्धार हो रहा है। दुःख-दर्द और दासता के दबाव से राष्ट्र व्यक्तियों के समान आध्यात्मिक शिखरों तक पहुंच सकते हैं। भारत करवट बदल रहा है। वह अपने अधःपतन के कारणों को समझ रहा है तथा अपने प्राचीन आदर्शों और प्रेरणा के सत्य में विश्वास करने जा रहा है।

"शास्त्रों में, धर्म में और समाज में भारत आज सभी क्षेत्रों में अपने-आपको धोखा दे रहा है और अपनेको अपमानित कर रहा है। सत्य और बलिदान के बल पर वह अपनी आत्मा को नहीं जगा रहा। यही कारण है कि दूसरे राष्ट्रों से उसे जो मिल सकता था, वह भारत प्राप्त नहीं कर सका। इसीलिए पश्चिम से भी उसका समन्वय अधूरा है। इस संपर्क का पूरा फल भारत को नहीं मिल सका, उसे मिली है केवल लज्जा और पीड़ा।"[1] रवीन्द्रनाथ की कृतियों में वेदना का भाव उनकी इस धारणा के कारण है कि भारत को जो करना चाहिए, वह नहीं किया जा रहा। भारत की दशा से उनके दिल को ठेस पहुंचती है। "राजनैतिक आन्दोलन के हमारे प्रयत्न मुझे एकदम झूठे और अपनी विवशता में दयनीय रूप से कमजोर दिखाई देते हैं। मैंने अनुभव किया है कि यह भगवान् की बहुत बड़ी कृपा है कि भिक्षा मांगना लाभदायक वृत्ति नहीं और केवल उसीको कुछ मिलता है, जिसके पास पहले ही कुछ होता है। मैंने अपने दिल में कहा कि हमें अपनी विरासत को फिर से प्राप्त करना चाहिए और इस प्रकार ही संसार में अपना यथोचित स्थान लेना चाहिए।" वह विरासत क्या है? "जीवन की सादगी, आध्यात्मिक दृष्टिकोण की स्पष्टता, हृदय की विशुद्धता, संसार से सामंजस्य और समस्त प्राणि-जगत् में असीम ब्रह्म के अस्तित्व की चेतना।"[2] वह जानते हैं कि देश की परिस्थितियां कैसी हैं और आत्मा की ज्योति जगाये जाने में किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। हमारे देश की भयंकर गरीबी, निरक्षरता और लोगों की अज्ञानता, भौतिकवाद का उदय और आदर्शवाद की अवनति, आध्यात्मिक जीवन की बढ़ती हुई दुर्बलता, आपसी कलह और झगड़े, शिक्षा और स्वच्छता

---

[1] शान्तिनिकेतन, परिचय, पृष्ठ २-३

[2] दि फ्यूचर ऑफ़ इंडिया

का इतना निम्न स्तर जो महामारी अथवा भुखमरी के समय भयंकर रूप धारण कर लेता है—यह भारत का ऐसा चित्र है जो अधिक-से-अधिक आशावादी व्यक्ति को भी उदास बनाये बिना नहीं रह सकता। रवीन्द्रनाथ की कृतियों में निराशावाद का कारण, भारत में अध्यात्म-विरोधी शक्तियों का उनका ज्ञान है। भारत के उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में उन्हें संदेह नहीं, यदि वह अपने अतीत को पुनर्जीवित कर ले। किन्तु अभी तक ऐसा न होने का उन्हें दुःख है। अतीत के गौरव से उनकी भविष्य की कल्पना प्रेरित हुई है, किन्तु उन्हें वर्तमान में भावी महानता के बीज दिखाई नहीं देते। अध्यात्म की ओर लोगों की, उदासीनता और देवालय में मौन है। वेदी अभी तक भी स्थिर है, किन्तु भग्न और दूषित। किसी समय अध्यात्मवाद का गढ़ अब भौतिकवाद की ओर झुक रहा है; किसी समय का गौरवशाली और प्रतिभापूर्ण, शक्ति तथा जीवन का पुंज अब स्वार्थ और अकर्मण्यता में खो गया है। हम देश में चारों ओर कहीं घूम जायं, हमें कहीं उदार सहानुभूति अथवा सच्चे उत्साह और आध्यात्मिक प्रेरणा के दर्शन नहीं होते। गद्यपूर्ण गणना और स्वार्थवृत्ति सभी चीजों पर छा गई है और उसके कारण मानव-समाज विकृत, पतित और वियुक्त हो गया है। जब वह चारों ओर संसार को और अध्यात्म की स्थिति को देखते हैं तो उन्हें क्षोभ होता है और उनका दिल बैठता है। कल्पनाशील रवीन्द्रनाथ की यह धारणा है कि धार्मिक अभ्युदय भारत को उसकी वर्तमान स्थिति से ऊपर उठायेगा। ऐसा अभ्युदय ही उसमें नया जीवन भर सकता है और वहां आशा का संचार कर सकता है जहां निराशा छायी हो। चूंकि वह हमें मुक्ति का शुभ समाचार देते हैं, उनके संदेश में आनन्द, आशा, उत्साह और आशावादिता है।

(७)

रवीन्द्रनाथ को इस बात से खुशी है कि भारत अस्थायी रूप से ब्रिटेन के आधिपत्य में आ गया, क्योंकि भारत को राष्ट्रीय जीवन के प्रति उत्साह और पुनर्जीवन उसके सम्पर्क से ही मिला। सामाजिक, धार्मिक और नैतिक सभी विषयों में लोगों के हृदय में संदेह और प्रश्न उठने लगे। लोग पूछते हैं कि भारतीय सभ्यता में क्या न्यूनता है, जिसके

कारण कुछ क्षेत्रों में वह असफल रही। भारत की वर्तमान आर्थिक दरिद्रता और राजनैतिक अधीनता की स्थिति का कारण क्या है? पश्चिम के संपर्क के परिणामस्वरूप सब बातों में एक प्रकार की विफलता हो गई और उसने भारतीय सभ्यता के कुछ पुराने सूत्रों को फिर से ढालने का अवसर दिया। रवीन्द्रनाथ भारत में अंग्रेजों द्वारा किये गए कार्यों को स्वीकार करते हैं। उनका यह निश्चित मत है कि यदि भारत पर किसी विदेशी सत्ता का शासन होना ही था तो अन्य किसी भी सत्ता की अपेक्षा ब्रिटिश राज्य ही अच्छा था। ब्रिटेन ने महंगा किन्तु कुशल शासन दिया, प्रभावशाली कानूनी सत्ता दी जिससे जीवन और संपत्ति सुरक्षित रह सके और इस प्रकार राष्ट्रीय उन्नति और एकता की नींव रक्खी। स्वतन्त्रता के राजनैतिक आदर्शों के लिए भारत ब्रिटेन का ऋणी है। जब अंग्रेजों ने भारत में पैर रक्खा, उन्होंने जाने-अनजाने भारत में ऐसी क्रान्ति जगा दी, जो बिना स्वाधीनता-प्राप्ति के शान्त नहीं होगी। "अभी अंग्रेज पश्चिम से आये ही थे कि उन्होंने भारतीय इतिहास में प्रमुख स्थान ले लिया। यह घटना आवांछनीय या केवल आकस्मिक नहीं है। यदि भारत पश्चिम के संपर्क में न आया होता तो उसकी पूर्ण अधोगति हो गई होती। यूरोप का दीया अभी भी जल रहा है, हमें उसकी ज्योति से अपने बुझे दीपक को जलाकर समय के रास्ते पर फिर से चलना शुरू कर देना चाहिए। हमें अंग्रेजों के संपर्क के उद्देश्य को पूरा करना चाहिए। हमारा काम महान् भारत का निर्माण है।" ब्रिटेन के साथ के संपर्क ने हमारी आत्मा को मुक्त किया है और व्यक्तियों को स्वाधीनता की ओर अग्रसर किया है। इस महान् कार्य को हमें तर्क-संगत परिणाम तक पहुंचाना है, केवल उसके हनन के लिए आत्मा को मुक्त करने से कोई लाभ नहीं। आत्मिक मुक्ति राजनैतिक स्वतन्त्रता का बुनियादी सिद्धान्त है और दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। इंग्लैंड ने बहुत हद तक पहले में योग दिया है, किन्तु अभी दूसरे को प्राप्त करना है। उसने नागरिकता, देशभक्ति और राजनैतिक स्वतन्त्रता के आदर्शों की रचना की है, जिन्हें वह पूरा करके रहेगा।

रवीन्द्रनाथ की राय में, यह शिकायत करना बेकार है कि भारतीयों द्वारा जिम्मेदार सरकार, अंग्रेजों द्वारा अच्छे शासन का स्थान

नहीं ले सकती। क्योंकि राजनैतिक दृष्टि से हमारे लोग बहुत पिछड़े हुए हैं और इसलिए वे गलतियां करेंगे। यूरोपीय सभ्यता ने इस अभियोग का उत्तर देना हमें यों सिखाया है: "गलतियां करना इतना भयंकर नहीं है, जितना कि अपने शासन से वंचित रहना। हम भूलें करके ही सत्य के पास पहुंच सकते हैं। अभी हमें और कुछ कहना है: हम अपने शासकों को याद दिला सकते हैं कि यद्यपि वे अब जनतंत्रवाद की गाड़ी को बड़े अभिमान से खींच रहे हैं, किन्तु हम उन्हें स्मरण दिला सकते हैं कि जब इस मार्ग पर उन्होंने पहले-पहल चलना शुरू किया था, जब इस गाड़ी के पहिये अटक-अटककर चल रहे थे और जब एक के बाद दूसरे पूर्व-दृष्टान्त तक पहुंचने में उसे धचके खाने पड़ रहे थे, उस समय जनतंत्रवाद के वाहन की यात्रा इतनी संगीतमय नहीं थी, जितनी वह आज है। उस समय उसका मार्ग प्रशस्त नहीं था, वह समय था जब वहां की लोक-सभा एक के बाद दूसरे हित में उलझकर रह जाती थी—कभी बादशाह का हित, कभी धर्म का, कभी सामंतों का, कभी शराब निकालनेवालों का, और इस प्रकार विद्वेष, भ्रष्टाचार, अकुशलता, लड़ाई-झगड़े का बोल-बाला रहा। क्या ऐसा भी एक समय नहीं था, जब लोकसभा के सदस्यों को जुर्माने के भय से ही सभा में बुलाया जा सकता था? जहांतक गलतियों का सवाल है, आयरलैंड और अमेरिका के साथ इसके सम्बन्धों से लेकर डार्डनल और मेसोपोटेमिया में इसके हाल के कार-नामों तक, लोकसभाओं की जननी (ब्रिटिश पार्लियामेंट) द्वारा की गई गलतियों का ब्यौरा बहुत ही हतोत्साह करनेवाला है। ब्रिटेन की लोकसभा ने भारत में जो गलतियां की हैं, उनकी सूची तो और भी बड़ी है। स्वायत्त शासन का परिणाम कार्यकुशलता और जिम्मेदारी की भावना ही नहीं होती, इसके द्वारा मानवीय आत्मा का भी उत्थान होता है। व्यापक अर्थों में मानवता का आभास तभी होगा जब देहातों में रहनेवाले जनसाधारण को विचार करने और निष्पक्ष व्यवहार करने के सुअवसर मिलेंगे। अवसर के अभाव में इस देश का प्रत्येक व्यक्ति अविकसित रहता है। इसलिए सभी गलतियों, खतरों और जोखिम के बावजूद हमें स्वराज्य के लिए अवश्य मांग करनी चाहिए। "भारत में जो राष्ट्रीय बुराइयां हैं, उन सबका एकमात्र हल स्वराज्य

की प्राप्ति ही है।" इसके उत्तर में अपने देश के इतिहास का हवाला देकर अंग्रेज हमसे कह सकते हैं, स्वायत्त शासन का मूल्य हम अनेक संघर्षों और असीम परिश्रम के बाद समझ पाये हैं। मैं यह स्वीकार करता हूं कि प्रत्येक अग्रगण्य राष्ट्र कष्टों, गलतियों और बलिदानों के बीच से गुजरकर ही सत्य-विशेष तक पहुंच पाया है। किन्तु जो लोग बाद में आते हैं, उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि उस पथ का अनुसरण करते हुए वे भी उन्हीं यातनाओं और कष्टों को सहन करें। यूरोप को संपन्न होने और परिपक्व बनने में सदियां लगीं, किन्तु जापान उस संपन्नता के वृक्ष को अपनी भूमि में थोड़े से समय में ही लगा सका। इसलिए यदि स्वराज्य के लिए आवश्यक गुणों का हममें अभाव है, तो यह विश्वास करने का और भी कारण है कि व्यवहार और अभ्यास शीघ्र-से-शीघ्र आरंभ किया जाना चाहिए। 'पहले अधिकारी बनो और तब इच्छा करो'—यदि इस सिद्धान्त में कुछ भी सचाई होती तो कोई भी राष्ट्र स्वाधीनता प्राप्त न कर सकता। पश्चिम आज जनतंत्रवाद की डींग मारता है। मैं नहीं चाहता कि उस घृणित कीचड़ को उछालूं, जो पश्चिमी राष्ट्रों की ऊपरी चमक-दमक के नीचे दबी है। यदि कोई ऐसी सर्वोपरि सत्ता होती, जो यह आदेश देती कि गलतियों के रहते स्वायत्त शासन की कोई मांग नहीं कर सकता, तो पहले का-सा भ्रष्ट वातावरण आज भी यथापूर्व बना होता और उसमें सुधार की आशा विलीन हो गई होती। हमारे सामाजिक जीवन और व्यक्तिगत दृष्टि-कोण में निस्सन्देह दोष हैं, फिर भी हमें अपना स्वामी स्वयं बनना चाहिए। मानव का त्योहार सजधज से मनाया जा रहा है, किन्तु किसी भी देश में सभी चिराग नहीं जले हैं। फिर भी उत्सव बराबर मनाया जा रहा है। यदि हमारा चिराग़ कुछ समय के लिए बुझ गया है, तो ब्रिटेन के दीये से हम अपनी बत्ती बाल लें तो क्या हर्ज है! इससे ब्रिटेन के दीपक की ज्योति मन्द नहीं होगी, किन्तु संसार में अधिक उजाला हो सकेगा।"[१]
रवीन्द्रनाथ की यह धारणा है कि स्वाधीनता मिलने पर भारत के लोग अधिक तेजी से उन्नति कर सकेंगे। यदि भारत में अंग्रेजों के प्रति-निधि यहां के विकास और लोगों के विचारों में परिवर्तन का स्वागत

[१] 'मॉडर्न रिव्यू', सितम्बर १९१७

नहीं करते, बल्कि कड़े हाथों से उसका दमन करने का यत्न करते हैं तो रवीन्द्रनाथ के विचार से, भारत की प्रगति के लिए वह भी आवश्यक है; क्योंकि वह कहते हैं :

"जितनी अधिक वे अपनी पेटी कसेंगे उतनी ही जल्दी वह टूटेगी; जितनी ही अधिक उनकी आंखें लाल होती हैं, उतनी ही हमारी आंखें खुलेंगी।

अब आपके लिए काम करने का समय है, मीठे स्वप्न देखने का नहीं, और जितने ही वे गरजेंगे, उतनी ही जल्दी हमारी तन्द्रा दूर हो जायगी।

सावधानी सिद्धान्तों और विश्वास को कुचलती नहीं, उन्हें पोषित करती है। कठोर उपाय शासकों में शंका और अविश्वास की भावना पैदा करते हैं और इससे दो व्यक्तियों के बीच सामंजस्य की भावना में उचित तालमेल बढ़ने के बजाय मेल-मिलाप टूट जाता है। उसका परिणाम होता है कटुता और अन्याय की भावना में वृद्धि। रवीन्द्रनाथ कहते हैं, "अतिवाद सरकार की नीति के रूप में बहुत ही गलत है। उद्देश्य तक पहुंचने के लिए कानून का लम्बा रास्ता कभी-कभी भूलभुलैया-सा लग सकता है, परन्तु जैसे बेल्जियम के अधिकारों पर अतिक्रमण का फल हुआ, उसी तरह "न्याय के मार्ग को छोड़कर अतिवाद के छोटे मार्ग को अपनाना कभी सुखद नहीं होता।"[1] रवीन्द्रनाथ का यह दृढ़ विश्वास है कि ब्रिटेन भारत को स्वराज्य अवश्य देगा। वह जानता है कि यूरोपीय युद्ध उसे स्मरण दिलाता है कि यदि साम्राज्य के अधीन जातियों का राष्ट्रमंडल बन जाता है तो वह अधिक टिक नहीं सकता। यदि उसका अर्थ है स्वतंत्र देशों का राष्ट्रमंडल, तब उसके स्थिर रहने की संभावना है। ब्रिटेन की जनता इस दूसरे विचार के लिए केन्द्रीय शक्तियों के विरुद्ध, जो विश्व-आधिपत्य या विश्व के पतन में विश्वास रखती हैं, लड़ रही है। विश्व-स्वामित्व एक झूठा स्वप्न है। साम्राज्य का आधार नैतिकता होना चाहिए। वह एक आध्यात्मिक इकाई है। ब्रिटेन का उद्देश्य संसार में विभिन्न जातियों और धर्मोंवाले स्वतन्त्र राष्ट्रों के एक राष्ट्रमंडल की स्थापना का महान् प्रयोग

[1] 'मॉडर्न रिव्यू', दिसम्बर १९१७

करना है। यही वह आध्यात्मिक उद्देश्य है, जो आज साम्राज्य के विभिन्न लोगों को विरोधी सिद्धान्तों के विरुद्ध लड़ाई करने में बांधे हुए हैं। केवल सत्ता ही ब्रिटिश शासन की महान् वस्तु नहीं। उनके कुछ ऐतिहासिक आदर्श हैं, जिनपर ब्रिटेन खड़ा है और भारत में ब्रिटिश शासन को उन आदर्शों को झुठलाना नहीं चाहिए। ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के स्वतन्त्र लोगों को यह कहना कि वे भारत में हिन्दुस्तानियों को गुलाम बनाने के लिए हैं, उनका अपमान करना होगा। रूस की क्रान्ति ने यह प्रमाणित कर दिया है कि एक सरकार, चाहे वह कितनी ही मजबूत और शक्तिशाली क्यों न हो, वह राष्ट्र की सामान्य इच्छा की अवहेलना नहीं कर सकती। यूरोप में जो बात एक मृत अंधविश्वास बन चुकी है, वह भारत में एक जीवित वास्तविकता नहीं बन सकती, यद्यपि विचारों को यूरोप से एशिया तक पहुंचने में बड़ी देर लगती है। होनहार होके रहेगी और ब्रिटेन का यह गौरवपूर्ण अधिकार रहेगा कि वह भारत को उसकी मंजिल तक पहुंचाने के लिए मार्गदर्शन करे। आज भारत को कटु आलोचना अथवा व्यापारिक शोषण की नहीं, बुद्धिमानीपूर्ण सहानुभूति और व्यवहारशील मार्गदर्शन की आवश्यकता है। यदि ब्रिटेन यह देता है तो उसे उसके बदले भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों दृष्टि से हजार गुना अधिक मिलेगा; यदि वह नहीं देता है तो यह उसके प्रति विश्वासघात, सभ्यता के प्रति गुनाह और मानवता के प्रति पाप होगा। यदि ब्रिटेन और भारत में सम्बन्ध-विच्छेद हुआ तो वह एक भयंकर बात होगी, क्योंकि वह दोनों ओर से समझदारी की हार की स्वीकृति होगी। ऐसी विपत्ति का अर्थ है समझदारी की असफलता और दो राष्ट्रों के बीच सद्भावना का अन्त; किन्तु जबतक एक ओर भी राजनीतिज्ञता है, ऐसी घटना नहीं घटेगी।

पश्चिम में राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ कहते हैं, "हमारा एकमात्र निकट का राष्ट्रीय अनुभव केवल ब्रिटिश के साथ ही है, और जहांतक जनतंत्र की बात है, यह मानने के कारण हैं कि वह प्रणाली सबसे अच्छी है। तब फिर हमें यह सोचना है कि पश्चिम पूर्व के लिए आवश्यक है। हम एक-दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण भिन्न हैं, जिन्होंने हमें सत्य के विभिन्न पहलू दिये

हैं। इसलिए यदि यह सच भी हो कि पश्चिम की भावना हमारे क्षेत्र में एक तूफान के रूप में आई तो भी वह बिखरे हुए उन जीवित बीजों के समान है, जो अमर हैं। और जब हम भारत में, पश्चिमी सभ्यता में जो स्थायी है, उसे अपने जीवन में आत्मसात् कर सकेंगे, जब हम उन दो महान् संसारों में समझौता कराने की स्थिति में होंगे, तब एकतरफा शासन, जो आज फैल रहा है, उसका अन्त होगा। इससे भी अधिक, हमें यह स्वीकार करना होगा कि भारत का इतिहास केवल एक जाति-विशेष का इतिहास नहीं। यह उस निर्माण के क्रम का इतिहास है, जिसके बनाने में द्रविड़, आर्य, प्राचीन ग्रीक और ईरानी, पश्चिम और मध्ये-एशिया के मुसलमान—आदि संसार की विभिन्न जातियों का योगदान है। अब जब अंत में इसके जीवन के निर्माण में योगदान देने की अंग्रेजों की बारी आई है, हमें न यह अधिकार है और न ही हमारी ताकत है कि हम उन्हें भारत के भाग्य-निर्माण के कार्य से अलग कर दें।"[1] रवीन्द्रनाथ अनुभव करते हैं कि उनका कर्तव्य है कि वह इस संयोग को हर प्रकार से बढ़ायें, और वह ऐसे किसी भी दल के विरुद्ध हैं, चाहे वह अंग्रेजों का हो या भारतीयों का—जो ऐसे उद्देश्यों के प्रति, जो दोनों को समीप लाने में सहायक होते हैं, उनके खिलाफ कार्य करे। ब्रिटिश साम्राज्य के आदर्शों के प्रति वफादारी की यह मांग है कि हम अपने शासकों को, जब वे अपने कर्तव्य से च्युत हों, तो उन्हें उनके कर्तव्य की याद दिलायें। कनाडा की भूमि पर पदार्पण करने से इन्कार करके रवीन्द्रनाथ ने उस देश में भारतीयों के प्रति जो दुर्व्यवहार हुआ, उसके विरुद्ध मौन और जोरदार किन्तु सभ्य प्रतिवाद द्वारा, यह प्रमाणित कर दिया कि भारतीयों के आत्म-सम्मान के विषय में उनकी आस्था कितनी गहरी है। वह नहीं चाहते कि वे गाली खायें या अपमान सहें, या उस हाथ को चाटें जिसने उन्हें मारा हो।

"हमें यह जानना चाहिए कि उस हृदय में, जो दासता का अपमान
सहता है, तेरा प्रकाश मन्द हो जाता है;
कि जीवन जब कमज़ोर हो जाता है तो तेरे सिंहासन को धीरे-
से असत्य के सुपुर्द कर देता है;

---

[1] 'मॉडर्न रिव्यू', जून १९१७

क्योंकि निर्बलता उस विद्रोही के समान है, जो हमारी आत्मा को धोखा देता है।"[1]

(८)

अब हम रवीन्द्रनाथ के उन विचारों को देखेंगे, जो उन्होंने देश के पुनरुत्थान के लिए आवश्यक उपायों के सम्बन्ध में व्यक्त किये हैं। यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस पर बहुत-सी मिथ्या धारणाएं फैली हुई हैं। यह कहा जाता है कि रवीन्द्रनाथ का गीत अराजक प्रवृत्तियों को प्रेरणा देता है, और उसकी थोड़ी-बहुत सहानुभूति "चीन, जापान और अमेरिका की चापलूसी" के साथ है, जिसके सम्बन्ध में हम विदेशी पत्रों में सुनते हैं। यह कहना बड़ा विचित्र लगता है कि भारत के कई भागों में इससे विरुद्ध मत प्रचलित है, जहां यह कहा जाता है कि रवीन्द्रनाथ ने अपने पुराने राष्ट्रीय दृष्टिकोण को ही त्याग दिया है। हम उनकी स्थिति स्पष्ट कर दें।

रवीन्द्रनाथ की सहानुभूति कांग्रेस के उन नरमदलीय लोगों के साथ नहीं, जिनके राजनैतिक विश्वास मध्य-विक्टोरियन युग में प्रचलित बुद्धिवाद, प्रबोधन, प्रगति और स्वाधीनता जैसे नारों पर आधारित हैं और जिनकी कार्यविधि समाचारपत्रों और मंच पर भाषणों के द्वारा शांतिपूर्ण वैधानिक आन्दोलन करने तक सीमित है। भारत की प्राचीन भावना के प्रति यदि घृणा नहीं तो उदासीनता का भाव उनमें अवश्य है। वे मिल और मोर्ले, वर्क और ब्राइट के सम्बन्ध में बड़ी चिकनी-चुपड़ी बातें करते हैं और यदि बाकी सारा भारत उनका अनुसरण करे और बिना रुचि अथवा बुद्धि के उनकी नकल करे, तो उन्हें बड़ी खुशी होगी। उनके कार्यक्रम की कोई आध्यात्मिक बुनियाद न होने से वह नरमदल किसीको आकर्षित नहीं करता। रवीन्द्रनाथ समझते हैं कि इन नरमदलीय लोगों ने राजनीति में भिखारीवृत्ति को सुन्दर कला के रूप में विकसित कर दिया है। इस 'भिक्षा-वृत्ति' पर चलनेवालों के पास देश के भविष्य के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट विचार नहीं हैं। वे नहीं जानते कि सफलता का मार्ग कौन-सा है, और यदि वे जानते

[1] इंडियाज़ प्रेयर

भी हैं तो उसपर चलने का उनमें साहस नहीं। उग्रवादी बम फेंकने-वाले और रेल की पटरियां उतारनेवाले नहीं, बल्कि वे हैं जो कर्म की स्वतन्त्रता का समर्थन करते हैं। जबकि नरमदलीय समझते हैं कि बातें, दबाव और अन्य ऐसे सस्ते और आसान तरीकों से राजनैतिक उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है, तब उग्रवादी इस विचार के हैं कि बिना सहन किये और जोखिम उठाये कोई महान् वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। उनके अन्दर समस्याओं पर विचार करने और इन घटनाओं का सामना करने की सच्ची इच्छा होती है और वे सुखद भ्रमों से अपने-आपको बहलाने में संकोच करते हैं। उनका (उग्रवादियों का) यह अनुरोध है कि राजनैतिक समस्याएं शब्दाडंबर से नहीं सुलझ सकतीं, जबकि नरम-दलीय शासकों को तर्क से मनाने का प्रयत्न करते हैं। उग्रवादी यह अनुभव करते हैं कि सच्चा आध्यात्मिक कार्य ही शासकों को उनके उद्देश्य की न्यायसंगति का कायल कर सकेगा। ये लोग पाखण्ड छोड़ वास्तविकता की ओर मुड़ते हैं और वे उन लोगों से, जिनके हृदय में ज्वाला है, जिनका चरित्र ऊंचा है, अपील करते हैं। वे उनसे देश के लिए जीवन और घर, तथा धन-संपत्ति के त्याग की मांग करते हैं। वे कभी कभी वैधानिक आन्दोलन को भी अपनाते हैं, किन्तु बहादुरी और साहस के साथ। किन्तु इस विचारधारा के लोग भी गलती करते हैं, क्योंकि वे भूल जाते हैं कि भारत की समस्या केवल राजनैतिक नहीं, वरन् जीवन की सभी प्रकार की समस्याएं उसके सामने हैं।" वे इस स्वतःसिद्ध तथ्य को स्वीकार नहीं करते कि हमारी सामाजिक व्यवस्था में ऐसे कारण विद्यमान थे, जिन्होंने भारतीयों को दुश्मनों से लड़ने में असमर्थ बना दिया।"[१] वह पूछते हैं, "यदि किसी भी कारण से अंग्रेजों को यहां से हटा दिया जाय, तो हमें क्या करना चाहिए ? हम तब किसी दूसरे राष्ट्र के अधीन हो जायंगे। भारत में हमें जो बात सोचनी है, वह यह है कि हम उन सामाजिक रिवाजों और आदर्शों को हटा दें, जिन्होंने हममें आत्म-सम्मान की कमी और अपने से उपर के लोगों के आश्रित बन जाने की भावना को जन्म दिया है—और जिसने भारत में जाति-प्रथा के आधिपत्य के फलस्वरूप आज के युग में उन परम्पराओं पर अन्धे और

[१] नेशनेलिज्म, पृष्ठ, ११३

आलसी होकर पूरी तरह निर्भर हो जाने के कारण ऐसी स्थिति पैदा कर दी है।"[1] रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में भारत में जात-पांत का प्रभाव उतना ही शरारतभरा है जितना पश्चिम का। दोनों ही यंत्रवादी, मृत और निर्जीव, लोचनहीन और आत्माविहीन संगठन हैं। उनकी इच्छा यह है कि भारत के सभी सेवकों को आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के रचनात्मक आदर्श से प्रेरित होना चाहिए, और उसी विचार को ध्यान में रखकर लोगों को नागरिक, सामाजिक और राजनैतिक निरंकुशता से बचाना चाहिए।

नवजीवन के लिए इच्छुक एक देश में, जहां अधिक उज्ज्वल संसार और अधिक निर्मल आकाश की सामान्यतया उत्कृष्ट अभिलाषा हो, वहां मनुष्य के उद्वेग विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं। वहां जबकि कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो हिंसात्मक कार्यों से डरते हैं, तो दूसरे ऐसे भी होते हैं जो खुशी से उनका आवाहन करते हैं। इनमें से कुछ जो दूसरी श्रेणी में आते हैं, वे हैं दुर्भाग्यशाली और गलत दिशा में गये हुए युवक, जो अपने अन्धे आवेश में आकर सारे राष्ट्र को एक सूत्र में गूंथनेवाली कड़ियों को तोड़ डालते हैं और इस प्रकार राजनैतिक गुनाह करते हैं। परिस्थिति का निराशाजनक विचार उनमें औचित्य और न्याय के स्थान में अविश्वास को जन्म देता है, और सफलता के मोड़ पर पहुंचने की गलत धारणाएं तथा साहस के साथ सस्ते समझौते उनपर हावी हो जाते हैं। सीधे व्यवहार के प्रेमी रवीन्द्रनाथ इस विचारधारा के विरुद्ध बड़े आवेश से दलील देते हैं, "मैंने सदा इस बात पर जोर दिया है कि गलत काम की कीमत आगे जाकर कभी भी लाभदायक नहीं होती, क्योंकि पाप का कर्ज हमेशा अधिक भारी होकर ही समाप्त होता है। मैं इस बात पर बहुत दृढ़तापूर्वक जोर देता हूं कि उग्रवाद, जो न तो उचित है, न वैध और न खुला, जिसका अर्थ है सीधे रास्ते का और जल्दी से पथ के एक विशेष छोर को पाने की आशा में टेढ़े-मेढ़े रास्तों को अपनाना, हमेशा नितान्त निन्दनीय है।" वह अपनी सारी शक्ति लगाकर भारत के लोगों को यह बताना चाहते हैं कि पाप और गुनाह के द्वारा राजनैतिक स्वतन्त्रता तक पहुंचने का कोई छोटा

[1] नेशनेलिज्म, पृष्ठ ११३

रास्ता नहीं, वहां पहुंचने के लिए तो शक्ति और सहिष्णुता का राज-मार्ग ही है। दो स्थानों के बीच एक सीधी रेखा ही सबसे छोटी होती है जो दो बिन्दुओं के बीच स्थान और जामैट्री में ही नहीं, जीवन और भावना के बीच भी खींची जा सकती है। टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएं कुछ देर के लिए छोटी भले ही दिखाई दें, किन्तु अन्त में वे अपनी अत्यधिक लम्बाई को प्रकट करके रहेंगी। कुछ समय के लिए हम दूसरों को अपना शिकार बनाकर अपने-आपको विजयी भले मान लें, किन्तु विजय और शिकार बनाने की प्रक्रिया हमें जीत की ओर नहीं ले जाती। इस तरह हम अपना लक्ष्य भले ही प्राप्त कर लें, किन्तु वह अधिक स्थायी नहीं होगा। गुण, जिसका अर्थ है त्याग, वही मुक्ति का मार्ग है। इन स्थितियों में अच्छे और बुरे, सही और गलत, सच और झूठ में कोई समझौता नहीं। हम एक के द्वारा दूसरे को नहीं पा सकते। हमारी सारी क्रियाएं तर्क के निष्ठुर अधिकार में हैं। जीव में कर्म-जैसी एक वस्तु है, जिसे हम आत्म-हानि के बिना नहीं मार सकते। हर गुनाह का हमें प्रायश्चित्त करना होगा। अधिकारों का प्रत्येक खंडन अपने साथ दुःख और यातना के अवश्यम्भावी परिणामों को साथ लेकर चलता है, जिन्हें कोई रोक नहीं सकता। प्रत्येक अपराध किसी हद तक एक तरह की अनैतिकता पैदा करता है, जो राष्ट्रीय हृदय की शक्ति और गुण को क्षीण करता है। नैतिक कानून यह बताता है कि जब हम दूसरों को मारते हैं, वह चोट हमपर ही वापस आती है। भ्रष्टाचार नवजीवन की ओर नहीं, मृत्यु की ओर ले जाता है। बहुत-से प्रभावशाली युवक हिंसात्मक अराजकता को अपनाकर कमजोर और क्रूर बन जाते हैं, क्योंकि देर-सवेर नैतिक संकट आ खड़ा होता है; जब वह ज्योति जो साहस और विश्वास को प्रेरित करती है और जो आत्मा में सेवा और त्याग की भावना को मजबूत करती है, हमेशा के लिए बुझ जाती है; शंका और अविश्वास से दृष्टि पर अंधेरा छा जाता है, आत्मा विषाक्त बन जाती है और इसलिए मर जाती है, और पुनीत उद्देश्य यदि नष्ट न भी हो तो कमजोर अवश्य पड़ जाता है। परमात्मा द्वारा भारत को सौंपा हुआ महान् कार्य गलत रास्तों पर चलकर और जल्दबाजी के झूठे उपायों को अपनाकर पूरा नहीं हो सकता, वरन् शाश्वत सत्य की

पूजा करके और सादगी के गुण को अपनाकर, आत्मा का पसीना बहाकर और शरीर के त्याग से ही पूरा किया जा सकता है। राजनैतिक चालबाजी और अवसरवादिता को अपनाकर हमें अपनी आत्मा की स्वच्छता को खोकर उसे अपवित्र नहीं करना चाहिए। हमें यह विश्वास करना चाहिए कि हार अनादर की अपेक्षा, कष्ट-सहन दुःख देने की अपेक्षा, और वेदना घृणा की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। हमें तिरस्कार के बिना सह लेना और दुःख के बिना त्याग करना सीखना चाहिए। आत्मा को धर्म-परायणता, जो पर्वत की तरह सदा स्थायी है, छोड़कर किसी सत्ता के आगे नहीं झुकना चाहिए। रवीन्द्रनाथ हर प्रकार के आतंक का तिरस्कार करते हैं और अपने देशवासियों का, भारत, जिसके पास पवित्र और निष्कलंक अन्तःकरण की सम्पत्ति है, उसके पुनरुद्धार के कार्य के लिए आवाहन करते हैं। उनकी यह उत्कट इच्छा है कि नवीन देशभक्ति की भावना को, जो नवीन भारत के जीवन का बहुत शक्तिशाली तत्त्व है, पवित्र और साफ रखना चाहिए, अपराध या अनुचित प्रेम के धब्बों से उसे गन्दा नहीं होने देना चाहिए।

जहां रवीन्द्रनाथ विनाश की इस प्रवृत्ति का, जिसने देश में कुछ भटके हुए जवानों को जकड़ दिया है, विरोध करते हैं, वहां वह यह भी बताते हैं कि इस प्रवृत्ति का कारण पश्चिम का प्रभाव है। भारत का धर्म सदा न्याय पर खड़ा रहा है। अनुचित उपायों द्वारा हमें अस्थायी सफलता मिल सकती है, किन्तु अन्त में विनाश अवश्यंभावी है। भारतीय धर्मशास्त्र घोषित करते हैं, "मनुष्य अधर्म द्वारा पनपते हैं। अधर्म में उनको कल्याण दिखाई देता है, अधर्म से वे शत्रुओं को उखाड़ फैंकते हैं, किन्तु वे स्वयं जड़ से नष्ट हो जाते हैं।"

संसार के प्रगतिशील देशों का इतिहास भारतीय युवक को सिखाता है कि प्रेम, युद्ध और राजनय में सभीकुछ ठीक है। वह सीखता है कि राष्ट्रों का आदर उसके अनादर में नष्ट हो जाता है। वह देखता है कि इतिहास के कठोर तथ्य हैं नैतिक कानून का तिरस्कार, मानव-जीवन के प्रति अनादर और कमजोर राष्ट्रों के अधिकारों के प्रति उदासीनता। राजनय की गणना प्रगतिशील राष्ट्रों में व्यवहारशील नैतिकता को प्रेरित करती मालूम होती है, जिसके कारण समय-समय पर संसार

के कमजोर लोगों को बेचा और खरीदा गया है। उनकी अवहेलना और अपमान हुआ है। उनके साथ धोखा किया गया है और उनको पराधीन बनाया गया है। वह देखता है कि स्वतन्त्र राष्ट्रों में भी दलों और गुटों के जघन्य झगड़े और सत्तालोलुप राज्यों और व्यक्तियों के बीच संघर्ष रहते हैं। इन सबके बावजूद यदि वे सफल हुए, तो इसका अर्थ वह यह लगाता है कि यह सफलता विचारहीनता का ही परिणाम है। इतिहास उसे अपराधों और बुरे कामों का रजिस्टर दिखाई देता है और वह पूछता है, हमें इतिहास उसी तरह क्यों नहीं बनाना चाहिए जिस तरह वह बनता है ? यदि राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र राष्ट्र मनुष्यों के पत्र खोल लेते हैं—जो कारलाइल के अनुसार "लोगों की जेब कतरने के बराबर है"—मोहर तोड़ते हैं, गोपनीयता का खंडन करते हैं और व्यक्तित्व के निजी जीवन पर आघात करते हैं, और यदि उसे इस बात का उचित दंड न मिले तो उसमें अपने धर्मशास्त्रों की शिक्षा को फैंक मारने की प्रवृत्ति जगती है और वह नैतिक कानून के अस्तित्व में ही सन्देह करने लगता है। रवीन्द्रनाथ कहते हैं, "हम अपने कुछ युवकों द्वारा अपनाये गए उन उपायों के कारण, जिनकी शरण उन्होंने देश की प्रगति में आने-वाली बाधाओं से छुटकारा पाने के लिए ली, बड़े शर्मिन्दा हैं। हम इस कारण और भी अधिक शर्मिन्दा हैं क्योंकि उचित और तत्काल आवश्यक का भेदभाव हमें पश्चिम ने सिखाया है। राजनय के खुले और गुप्त, झूठ, सच और प्रशासन द्वारा अनुमोदित डकैती को पश्चिम में अनिवार्य रूप से उस पुरस्कार का एक अंग माना जाता है, जिसके बल पर राष्ट्र दृढ़ बनते हैं। इसलिए हम अब यह समझ पाये हैं कि जहां देशभक्तिपूर्ण स्वार्थ सिद्ध होता हो, वहां धर्म-परायणता की चिन्ता करना एक दुर्बलता है, मूर्खतापूर्ण बात है और निरर्थक भावुकता है।"[1] इस प्रकार औचित्य की अखंडता, आत्मा की पवित्रता, संपत्ति के प्रति आदर ये सब भारतीय आदर्श हमारे नौजवानों के दिलों में पश्चिम से संघर्ष के कारण—मिट्टी में मिल जायंगे। समय आ गया है कि राष्ट्र अपने दिलों से सार्वजनिक और निजी नैतिकता का अनैतिक भेदभाव मिटा दें और बर्क की इस मान्यता की कि, राजनीति के सच्चे सिद्धान्त वास्तव में व्यापक

[1] नेशनेलिज्म, पृष्ठ ८७

नैतिकता से बढ़कर और कुछ नहीं, पोषण करें। पृथक् आदर्शों के आधार पर जीवन को विशेष टुकड़ों में बांटने का रवीन्द्रनाथ विरोध करते हैं। हम नहीं कह सकते कि कौटुम्बिक जीवन पहली, व्यापारिक कार्य दूसरी और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तीसरी वस्तु है। यह हो सकता है कि यूरोप के राष्ट्र इन विभागों के बंटवारे के अभ्यस्त हों, किन्तु यूरोप को उन्हींके सिक्कों में चुकाने की लालसा से भारत को बचना चाहिए। "हमें यूरोप की वर्णभेद की नीति की, अर्थात् यह पीली या लाल जाति है, भूरी या काली है, नकल हमें नहीं करनी चाहिए।"[1] यूरोप का यह सबसे बड़ा दुर्गुण है, जो वहां के लोगों के व्यवहार में प्रदर्शित होता है, और इस प्रकार ईश्वर और मनुष्य, सत्य और नैतिक कानून में विश्वास नहीं खोना चाहिए। यह सोचना गलत है कि पश्चिम ने अपना यह वर्तमान महत्त्व विचारहीनता को अपनाकर पाया है। पश्चिमी सभ्यता में भी एक जीवित आत्मा बसती है, जो मनुष्य में निहित गहरे अविश्वास, उन पुनीत अधिकारों के लिए कुटिल घृणा, जो सरकारों की नीतियों में अभिव्यक्त हुए हैं और जो अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए अधिकारों के उल्लंघन और विश्वासघात करने में नहीं हिचकती, उन सबका प्रतिवाद करती है। यूरोप की महानता उसकी सत्ता की पूर्णता में इतनी नहीं, जितनी निःस्वार्थ आदर्शों के प्रति आदर की भावना है।[2]

अच्छी सरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसे उपायों की खोज करे, जिससे राष्ट्र के उत्साह और त्याग की शक्ति को बुद्धिमत्तापूर्ण मार्गदर्शन मिल सके। क्योंकि समझदारी से रहित और निराशा में डूबा हुआ उत्साह पागलपन के छोर तक पहुंच जाता है, जिसका परिणाम शासकों और शासित दोनों के लिए अवांछनीय होता है। जिन बातों को वे उचित मानते हैं, उनके प्रति इन उग्रवादियों की असीम आस्था और उन्हें प्राप्त करने के लिए उनमें पूर्ण आस्था, आत्मसमर्पण की शक्ति और मृत्यु तथा भय की निर्भय स्वीकृति को देश की मूल्यवान् निधि के रूप में परिणत किया जा सकता है और यह

[1] नेशनेलिज्म, पृष्ठ ८७

[2] नेशनेलिज्म, पृष्ठ ८७

उस सरकार का कर्तव्य है, जो राजनैतिक गुनाह को दबाकर जो भी श्रेयस्कर है उसे भले काम में लाने के मार्ग खोल देना चाहती है। क्योंकि जब उनके सामने देश-सेवा के मार्ग खुले नहीं होते तो वे गुप्त और बुरे रास्ते अपना लेते हैं तथा छिपे और अनजान देवताओं की पूजा करने लगते हैं। जीवन एक हलचल है और हम उसे रोक नहीं सकते। यदि हम उसके बहते प्रवाह को रोकते हैं, तो वह दूसरे मार्ग ढूंढ़ लेता है, और ऐसा करने से वह विस्फोट की तरह फूट निकलता है। आत्मा स्वतन्त्रता तथा रचना के आनन्द के लिए है। दुनिया-भर की शक्तियां स्वतन्त्रता के लिए अविराम खोज, जीवन के प्रति रुचि और जीने के उल्लास का अवरोध नहीं कर सकतीं। "शाही सरकार की विस्तृत योजना में केवल मुंशीगिरी की नौकरी के मार्ग खुले रखना ही पर्याप्त नहीं है—यदि साहसी कार्यों का कोई मार्ग खुला नहीं होगा, तो मनुष्य की आत्मा मुक्ति के लिए तड़पेगी और उसके लिए गुप्त मार्गों की खोज होगी, जिसके रास्ते बड़े खतरनाक होंगे और उसका अन्त क्या होगा, इसकी कल्पना भी कठिन है।"[१]

---

[१] रेमिनिसेन्सज, पृष्ठ १४३

: ५ :

विश्व को रवीन्द्रनाथ टैगोर का संदेश

मैंने स्वप्न देखा, स्वप्न में मैंने ऐसा नगर देखा, जो समस्त शेष पृथ्वी द्वारा किये गए आक्रमणों से अजेय था;
मैंने स्वप्न देखा कि वह मित्रों का नया नगर था।
तीव्र तथा पुष्ट प्रेम के गुग की अपेक्षा वहां कुछ भी अधिक महान् और उदात्त नहीं था, दूसरे गुग इसके पीछे चलते थे।
यह गुग उस शहर के मनुष्यों की क्रियाओं में प्रत्येक क्षण दिखाई पड़ता था,
और उनकी दृष्टियों और शब्दों में भी।

—व्हिटमैन

किन्तु तब हमारे लिए कौन-सी सम्पत्ति बच रहेगी,
जब खुले आम अपने मित्र को खरीदने के लिए,
और विक्रीत की चिन्ता से ग्रस्त होने के लिए,
कोई भी सुवर्ण का संचय नहीं करेगा ?
कुछ भी नहीं संचय करेगा सिवाय मनोहर नगर के;
और पर्वत पर बने छोटे घर के;
और ऊसर तथा वनप्रदेश के सौन्दर्य के;
और उन आनन्दप्रद खेतों के जिन्हें हम जोतते हैं;
और प्राचीन कथाओं के उद्गम-प्रदेशों के;
और दिवंगत महापुरुषों की समाधियों के;
और आश्चर्यों की खोज करनेवाले बुद्धिमानों के;
और विचारों से छलकते हुए कवि के मस्तिष्क के;
और चित्रकार के चमत्कार करनेवाले हाथ के;
और वीणा आदि के वादक अद्भुत संगीतज्ञ के;
और गायक-मंडल के समवेत गान के;
वे सब जो कर्मशील तथा ज्ञानशील हैं।

—विलियम मौरिस

पश्चिम को प्रेरित करनेवाली आत्मा और आदर्श के प्रति रवीन्द्रनाथ के विचारों के संबंध में हमने कुछ कहा। हमने उस मनोभाव तथा आदर्श के सम्वन्ध में रवीन्द्रनाथ के विचारों का उल्लेख किया है जिनसे पाश्चात्य अनुप्राणित हैं। यह कहना ठीक नहीं कि रवीन्द्रनाथ पश्चिम के गुणों अथवा पूर्व के दोषों की अवहेलना करते हैं। स्वाधीनता और सत्य के आदर्श सन्त की भांति उन्होंने सभी पाखण्डों का खंडन किया है, चाहे वे पूर्वी हों या पश्चिमी। रवीन्द्रनाथ यह मानते हैं कि पश्चिम में उन्होंने समाज-सेवा का जो भाव देखा, उससे वह बहुत प्रभावित हुए। वह कहते हैं, "इससे मुझे प्रेरणा मिली।"[१] कानून, व्यवस्था और स्वाधीनता के पश्चिमी आदर्शों के वह प्रशंसक हैं। "मशीनगनों के धुंए और बाजारों के गर्द-गुबार के पीछे पश्चिम की नैतिकता की ज्योति चमकती है, जिसकी जड़ें सामाजिक परम्पराओं से अधिक गहरी हैं और जिसकी परिधि विश्वव्यापी है।.....यूरोप हमें जनकल्याण के उन उच्च कर्तव्यों को सिखलाता है, जो परिवार और कबीले के कर्त्तव्यों से अधिक श्रेष्ठ हैं और हमें उस कानून की पवित्रता की शिक्षा देता रहा है जिससे समाज को स्वतन्त्र आधार मिला है, जिससे प्रगति की सुरक्षा हो सकती है और जिससे सभी वर्गों और श्रेणियों के मनुष्यों को न्याय का आश्वासन मिलता है। इन सबसे बढ़कर यूरोप ने हमारे सामने सदियों के बलिदानों और सफलताओं के फलस्वरूप हमारे दिलों में आजादी का झंडा फहराया है—आत्मा की आजादी, विचार और कर्म की आजादी, कला और साहित्य के विचारों की आजादी का।"[२]

(२)

पाश्चात्य सभ्यता आध्यात्मिक की अपेक्षा अधिक यांत्रिक और धार्मिक की अपेक्षा अधिक राजनैतिक है। शान्ति की अपेक्षा इसमें शक्ति का अधिक ऊंचा स्थान है। यह राजनैतिक प्रवृत्ति कई प्रकार से व्यक्त होती है। नारी की समस्या उसका एक लक्षण है

[१] पर्सनेलिटी, पृष्ठ १७७

[२] गेल हैमिल्टन,

: ५ :

विश्व को रवीन्द्रनाथ टैगोर का संदेश

मैंने स्वप्न देखा, स्वप्न में मैंने ऐसा नगर देखा, जो समस्त शेष पृथ्वी द्वारा किये गए आक्रमणों से अजेय था;
मैंने स्वप्न देखा कि वह मित्रों का नया नगर था।
तीव्र तथा पुष्ट प्रेम के गुण की अपेक्षा वहां कुछ भी अधिक महान् और उदात्त नहीं था, दूसरे गुण इसके पीछे चलते थे।
यह गुण उस शहर के मनुष्यों की क्रियाओं में प्रत्येक क्षण दिखाई पड़ता था,
और उनकी दृष्टियों और शब्दों में भी।

—व्हिटमैन

किन्तु तब हमारे लिए कौन-सी सम्पत्ति बच रहेगी,
जब खुले आम अपने मित्र को खरीदने के लिए,
और विक्रीत की चिन्ता से ग्रस्त होने के लिए,
कोई भी सुवर्ण का संचय नहीं करेगा ?
कुछ भी नहीं संचय करेगा सिवाय मनोहर नगर के;
    और पर्वत पर बने छोटे घर के;
और ऊसर तथा वनप्रदेश के सौन्दर्य के;
    और उन आनन्दप्रद खेतों के जिन्हें हम जोतते हैं;
और प्राचीन कथाओं के उद्गम-प्रदेशों के;
    और दिवंगत महापुरुषों की समाधियों के;
और आश्चर्यों की खोज करनेवाले बुद्धिमानों के;
    और विचारों से छलकते हुए कवि के मस्तिष्क के;
और चित्रकार के चमत्कार करनेवाले हाथ के;
    और वीणा आदि के वादक अद्भुत संगीतज्ञ के;
और गायक-मंडल के समवेत गान के;
    वे सब जो कर्मशील तथा ज्ञानशील हैं।

—विलियम मौरिस

पश्चिम को प्रेरित करनेवाली आत्मा और आदर्श के प्रति रवीन्द्रनाथ के विचारों के संबंध में हमने कुछ कहा। हमने उस मनोभाव तथा आदर्श के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ के विचारों का उल्लेख किया है जिनसे पाश्चात्य अनुप्राणित हैं। यह कहना ठीक नहीं कि रवीन्द्रनाथ पश्चिम के गुणों अथवा पूर्व के दोषों की अवहेलना करते हैं। स्वाधीनता और सत्य के आदर्श सन्त की भांति उन्होंने सभी पाखण्डों का खंडन किया है, चाहे वे पूर्वी हों या पश्चिमी। रवीन्द्रनाथ यह मानते हैं कि पश्चिम में उन्होंने समाज-सेवा का जो भाव देखा, उससे वह बहुत प्रभावित हुए। वह कहते हैं, "इससे मुझे प्रेरणा मिली।"[1] कानून, व्यवस्था और स्वाधीनता के पश्चिमी आदर्शों के वह प्रशंसक हैं। "मशीनगनों के धुंए और बाजारों के गर्द-गुबार के पीछे पश्चिम की नैतिकता की ज्योति चमकती है, जिसकी जड़ें सामाजिक परम्पराओं से अधिक गहरी हैं और जिसकी परिधि विश्वव्यापी है।....यूरोप हमें जनकल्याण के उन उच्च कर्तव्यों को सिखलाता है, जो परिवार और कबीले के कर्त्तव्यों से अधिक श्रेष्ठ हैं और हमें उस कानून की पवित्रता की शिक्षा देता रहा है जिससे समाज को स्वतन्त्र आधार मिला है, जिससे प्रगति की सुरक्षा हो सकती है और जिससे सभी वर्गों और श्रेणियों के मनुष्यों को न्याय का आश्वासन मिलता है। इन सबसे वढ़कर यूरोप ने हमारे सामने सदियों के बलिदानों और सफलताओं के फलस्वरूप हमारे दिलों में आजादी का झंडा फहराया है—आत्मा की आजादी, विचार और कर्म की आजादी, कला और साहित्य के विचारों की आजादी का।"[2]

(२)

पाश्चात्य सभ्यता आध्यात्मिक की अपेक्षा अधिक यांत्रिक और धार्मिक की अपेक्षा अधिक राजनैतिक है। शान्ति की अपेक्षा इसमें शक्ति का अधिक ऊंचा स्थान है। यह राजनैतिक प्रवृत्ति कई प्रकार से व्यक्त होती है। नारी की समस्या उसका एक लक्षण है

---

[1] पर्सनेलिटी, पृष्ठ १७७

[2] गेल हैमिल्टन,

और यूरोपीय युद्ध दूसरा। 'पर्सनेलिटी' में रवीन्द्रनाथ ने नारी की समस्या को एक पूर्ण अध्याय दिया है। जीवन के दो पहलू हैं—विश्राम और हलचल, अथवा होना और बने रहना। इनमें से नारी की प्रवृत्ति में 'होने' का पक्ष अधिक बलवान है। नारी का सम्बन्ध गृहस्थ जीवन और प्रत्येक व्यक्तिगत तथा मानवीय वस्तु से है। स्वयं वस्तुओं में उसकी दिलचस्पी अधिक नहीं, उसकी दिलचस्पी का केन्द्र पुत्र, पिता और पति है। "जब कभी ऐसी चीज सामने आती है, जो स्पष्ट रूप से व्यक्तिगत अथवा मानव-सम्बन्धी हो, वह नारी-जगत् की परिचायक होती है। गृहस्थ जीवन में प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्थान है। इसलिए वह अपना मूल्य बाजार में नहीं, बल्कि किसीके प्यार में खोजता है, अर्थात् उस प्यार में, जिसे ईश्वर ने अपने वरदानस्वरूप सभी प्राणियों को दिया है।" भारतीय विचारधारा में स्त्री और पुरुष के संबंधों की तुलना कर्ता और कर्म, रूप और तत्त्व तथा पुरुष और प्रकृति से की गई है। ये सब एक-दूसरे से संबद्ध हैं और एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रचलित विचारधारा अधिकतर यह मानकर चलती है कि पुरुष और नारी में लैंगिक भेद के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं; मानो वे दो गेंदों की तरह हैं, एक सफेद और दूसरी काली, जिनमें एकमात्र अन्तर रंग का है। किन्तु कुछ मौलिक भेद हैं, जिनके कारण यह उदाहरण दूषित हो जाता है। पुरुष और स्त्री एक-दूसरे की नकल नहीं, एक-दूसरे के पूरक हैं। भाव, भावना और भावुकता नारी के प्रधान गुण हैं, जबकि विचार, मनन और चिन्तन पुरुष के गुण हैं। सहिष्णुता और आत्मसमर्पण नारी के आनन्द के विषय हैं और क्रियाशीलता को शक्तियुक्त करना पुरुष का गुण है। नारी विवाह के लिए और पुरुष व्यापार के लिए है। यदि पुरुष आलस्य से घर पड़ा रहे तो उसे निखट्टू कहते हैं और यदि नारी विवाह नहीं करती तो उसे बेकार कहते हैं।

आजकल नारी यह नहीं मानती कि उसका क्षेत्र घर की चार-दीवारी है। वह बेचैन है। वह शादी करने और बच्चे जनने से डरती है। वह व्यापार में पुरुष के एकाधिकार से संघर्ष करती है। दूकानों, कार-खानों और दफ्तरों में काम करके वह अपना विलगीकरण कर रही

है। वह पुरुष की नकल कर रही है और अपने जीवन को अस्वाभाविक तथा कृत्रिम बना रही है। वह पुरुष के गुणों और जीवन में उसकी स्थिति को प्राप्त करने के लिए तड़प रही है। सच्ची नारी न इस बात की इच्छा करेगी और न उसमें इनकी क्षमता होगी। विवाह की चाह का मूल नारी के हृदय में है। देखिये, एक नारी क्या कहती है—"दस लाख में एक भी ऐसी नारी न होगी, जो विवाह कराना न चाहे, यदि उसे अवसर मिले। मैं यह बात कैसे जानती हूं ? ठीक उसी तरह, जैसे मैं यह जानती हूं कि इस समय आकाश में तारे चमक रहे हैं, यद्यपि अब दोपहरी है। मैंने दोपहर के समय कभी तारे नहीं देखे, किन्तु आकाश में चमकना तारों का स्वभाव है और उन्हें रखना आकाश का स्वभाव है।"[२]

नारी के विद्रोह का कारण अंततोगत्वा हम आधुनिक सभ्यता की पौरुषपूर्ण विशेषताओं में देखते हैं। शक्ति और हलचल इस सभ्यता के प्रधान गुण हैं। "यह शक्ति की सभ्यता है, जिसमें नारी को एक तरफ हटा दिया गया है।"[१] नारी के विद्रोह के लिए पुरुष उत्तरदायी है "किन्तु चूंकि अपने दंभ के कारण पुरुष जीवित वस्तुओं की और मानवीय सम्बन्धों की खिल्ली उड़ाने लगे हैं, अनेक नारियां यह सिद्ध करने के लिए तिलमिला उठी हैं कि वे नारियां नहीं हैं और शक्ति तथा संगठन के प्रतिनिधियों के रूप में भी वे सच्ची हैं। आज के युग में वे यह महसूस करती हैं कि जब उन्हें केवल जाति की माता, मानव की आवश्यक जरूरतें और सहानुभूति तथा स्नेहरूपी आध्यात्मिक आवश्यकता पूरी करने के साधन के रूप में माना जाता है, तो उनके आत्म-सम्मान को ठेस पहुंचती है।"[२] मानव की अत्यधिक व्यस्तता के कारण नारी का कार्य-क्षेत्र दिनों-दिन संकुचित होता जा रहा है। पुरुष की धन और शक्ति की असाधारण लिप्सा के कारण नारी कई कामों से वंचित हो गई और दिन-पर-दिन घर का स्थान दफ्तर ले रहा है। "आज के जीवन में नारी के लिए बहुत कम स्थान रह गया है। नारियों के स्वच्छन्द विकास के

---

[२] पर्सनेलिटी, पृष्ठ १७२

[२] पर्सनेलिटी, पृष्ठ १-२९

मार्ग में पुरुष तरह-तरह की बाधाएं डालता है। आधुनिक सभ्यता में 'होना' अथवा जीवन का आधारभूत पहलू आंखों से एकदम ओझल हो गया है और इस प्रकार जीवन अपना सन्तुलन खो बैठा है और एक से दूसरे युद्ध तक छलांगें मारकर आगे बढ़ रहा है। इसे संतुलन पर फिर से वापस लाने के लिए यह आवश्यक है कि नारी इस जीवन में प्रवेश करे और इस सत्ता के उन्माद को अपने जीवनदायी संगीत से सींचे। सच्ची नारी के लिए व्यक्ति पवित्र है; सेनाओं, नौसेनाओं, दूकानों और कारखानों की अपेक्षा अधिक पवित्र। जब नारी जीवन में अपने कर्तव्य का पालन करेगी, तब पुरुष समझ सकेगा कि स्नेह सत्ता की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है। नारी जीवन में अपना सच्चा स्थान तभी ले सकती है जब प्रतियोगिता पर आधारित आर्थिक सभ्यता का स्थान सहयोग पर आधारित आध्यात्मिक सभ्यता ले ले। संसार में दुर्बलों की सुनवाई तभी होगी।

(३)

यूरोपीय युद्ध ने, जो ईश्वर के शरीर के रक्तप्रवाह के समान है—कवि के हृदय के मर्माहत कर दिया और यूरोप की आध्यात्मिक दुर्बलता के सम्बन्ध में उनके जो विचार थे उन्हें पुष्ट कर दिया। जीवन की इस भयंकर क्षति ने उनके हृदय को क्षोभ से भर दिया और उनके होठों से करुणा के स्वर फूट पड़े, "ओ सुन्दर, उल्लास से उन्मत्त होकर जब उन्होंने इतनी धूल उड़ाई कि तेरा परिधान मैला हो गया, तो उससे मेरा हृदय व्यथित हो उठा।"[१]

अनुचित व्यवहार और राष्ट्रीयता की हिंसात्मक भावना यूरोप के प्रलयकारी विनाश के कारण हैं। रवीन्द्रनाथ की यह राय है कि यूरोप अब अपनी सामूहिक लालसा का, जिसे वे राष्ट्रीयता कहते हैं, फल पा रहा है। "इस युद्ध में राष्ट्र की मृत्यु-पीड़ा शुरू हुई है। असत्य के उत्पीड़न का यह पांचवां काम है .... संसार में एक नैतिक कानून है, जो व्यक्ति और मनुष्यों की संगठित संस्थाओं— दोनों पर लागू होता है। आप अपने राष्ट्र के नाम पर इन कानूनों का

[१] फ्रूट गैदरिंग, ३६

खंडन नहीं कर सकते, फिर भी व्यक्तिगत रूप से उनका फायदा उठाते हैं। हम अपनी सुविधा के लिए सत्य को भूल सकते हैं, किन्तु सत्य हमें नहीं भूलता। नैतिक आधार के बिना संपन्नता टिक नहीं सकती। जबतक मनुष्य अपनी पूर्ण सम्पन्नता और मानवता के बीच जो बड़ी दीवार है, उसे देख नहीं सकता है, जबतक वह मानव की एकता का अनुभव नहीं कर सकता, उस बर्बरता का जिसे आप सभ्यता कहते हैं, अस्तित्व रहेगा। भौतिकता को गद्दी पर बिठाया गया है, विज्ञान विनाश का मित्र बना है और लालच के जोश में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को निर्दयतापूर्वक नष्ट कर रहा है।

"संसार के सारे काले पाप बढ़कर अपना किनारा तोड़ चुके हैं।
युगों से ईश्वर के हृदय में बढ़ती आग—
निर्बल की कायरता,
शक्तिवान की उद्दंडता,
विपुल संपत्ति का लालच,
पीड़ित की कटुता,
जाति का अभिमान,
और मनुष्य का अपमान—
इन सबने ईश्वर की शांति को भंग कर दिया है, जो क्रोध से कांप रहा है।"[1]

युद्ध इस बात का लक्षण है कि आधुनिक सभ्यता जीवंत नहीं, वह सावधान नहीं, गतिहीन है; आध्यात्मिक नहीं यांत्रिक है। वह मनुष्य को आत्मा नहीं, यंत्र मानती है। वह यंत्र की तरह चलनेवाले भौतिकवाद के लिए है, आनन्दमय जीवन के लिए नहीं। वह अन्तः-प्रेरणा और आत्मा की कीमत पर बुद्धि को ऊंचे चढ़ाती है। "इस प्रकार मनुष्य अपनी नैतिक शक्ति के अनुपात से कहीं बढ़कर अपने मानसिक और भौतिक बल का विस्तार कर बैठा है। और वह एक ऐसे बेतुके जिराफ के समान है, जिसका सिर सहसा मीलों लम्बा हो गया हो और उसका तथा बाकी शरीर का संबंध शिथिल पड़ गया हो। उसका

---

[1] फ्रूट गैदरिंग, ८४

लालची सिर अपने बड़े-बड़े जबड़ों में संसार के बड़े-से-बड़े पत्तों के गुच्छों को चबा रहा है, किन्तु उसके पाचक यंत्रों को पोषण मिलने में बहुत देर हो रही है, और उसका हृदय खून की कमी के कारण तकलीफ उठा रहा है।"[1] रवीन्द्रनाथ जब वर्तमान सभ्यता की भावना पर विचार करते हैं तो उनका हृदय घृणा से भर जाता है। "यूरोप की वर्तमान सभ्यता की बड़ी महत्त्वाकांक्षा शैतान को पूर्णतया अपने वश में करने की है। उसकी सारी सेना और राजतन्त्र इस उद्देश्य से संचालित होते हैं। किन्तु शैतान की इतनी महंगी पूजा समृद्धि के रास्ते से प्रलयकारी विनाश की ओर ले जाती है। आतंक का क्रोध, जो ईश्वर के इस संसार पर पश्चिम द्वारा व्याप्त हुआ है, अब उसीको डरा रहा है और उन्हें अधिकाधिक भयंकरता की तैयारी के लिए उकसा रहा है। राजनीति के इस शैतान की पूजा के लिए वह अन्य देशों की बलि चढ़ा रहा है—शताब्दियों की सभ्यता के बाद, राष्ट्र, रात के समय भटकते हुए जंगली जानवरों की तरह एक-दूसरे से डरकर, आतिथ्य के लिए अपने दरवाजे बन्द कर रहे हैं, केवल आक्रमण या बचाव के लिए ही एक-दूसरे से मिलते हैं, अपने कोनों में व्यापार के भेद, राज्य और सेना के रहस्यों को छिपाये रखते हैं; एक-दूसरे के भौंकते हुए कुत्तों के आगे शांति-समझौते के टुकड़े फैंकते हैं, ऐसे मांस के टुकड़े जो उनके नहीं, ऐसी गिरी हुई जातियों को जो अपने पैर पर खड़ा होना चाहती है, दबाये रखते हैं, दाहिने हाथ से कमजोर लोगों को धर्म का दान करते हैं, जबकि बाएं हाथ से उन्हें लूटते हैं—क्या इनमें एक भी ऐसी वस्तु है, जो हमारे लिए ईर्ष्या का विषय बन सके।"[2] पश्चिमी लोग झूठे ईश्वर के आगे झुकते हैं। वह झूठा ईश्वर है वह प्रबल बौद्धिक भाव, जिसे राष्ट्र कहा जाता है। "राष्ट्रीयता अपने-आपमें बुरी नहीं, किन्तु जब उसका अर्थ झूठ, स्वार्थ और आक्रमणकारी के रूप में लगाया जाता है, तब वह एक दूषित सिद्धान्त बन जाती है। जैसा कि जी० एल० डिकिन्सन ने कहा है, "राष्ट्रीयता एक ऐसा देव है, जिसके दो मुंह हैं। जहां तक यह लोगों के लिए स्वशासन के अधिकार की मांग करता है, यह स्वाधीनता का

[1] नेशनेलिज्म, पृष्ठ ३५-३६

[2] नेशनलिज्म, पृष्ठ, ८३-८४

पक्षपाती है। दूसरी ओर जब यह अन्य राष्ट्रों पर अधिकार जमाने की बात करता है, उन्हें नष्ट कर अपने सांचे में ढालने की बात सोचता है, तो यह आधिपत्य का समर्थक होता है। राष्ट्रीयता जब अपनी सुरक्षा के लिए तत्पर हो तो वह आदर-योग्य होती है, जब वह अपनी स्वाधीनता के लिए युद्धरत हो तो वह पवित्र होती है; किन्तु जब वह दूसरों पर अधिकार जमाने के लिए लड़ती हो, तो वह अभिशाप है।"[१]

पश्चिम में और अब पूर्व में भी राष्ट्रीयता को संकीर्ण और स्वार्थ-परता के अर्थों में समझा जाता है। इसके कारण निजी देश के प्रति अनुदार भक्ति की भावना पैदा होती है, जो अनन्य देशभक्ति को जन्म देती है। धर्म और नैतिकता ऐसी दृढ़ अपील पैदा नहीं करते, जैसे भाव किसीमें अपने राष्ट्र के जनगण और उनकी जन्मभूमि के प्रति होते हैं। जब एक राष्ट्र के लोग ईमानदारी और दृढ़ता से यह अनुभव करते हैं कि उनका देश सर्वोत्तम है, कि वह सच्ची संस्कृति और सभ्यता का अग्रदूत है, वह प्रगति और आजादी का पोषक है, तब यह बहुत आश्चर्य की बात नहीं, यदि वे बलपूर्वक अपना प्रकाश और सद्वृत्तियां दूसरे देशों में फैलायें, चाहे वे ऐसा चाहते हों अथवा नहीं। हमारे पास रोशनी है और देश से बाहर के लोग अंधेरे में मर रहे हैं, तब उन्हें प्रकाश और मुक्ति देना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। प्रगतिशील राष्ट्र स्वाभाविक रूप से यह अनुभव करते हैं कि वे ईश्वर के चहेते हैं और भगवान् ने उन्हें यह अधिकार दिया है कि वे अन्य देशों में घुस जायं, संभव हो तो बलपूर्वक, और इस प्रकार अन्य राष्ट्रों को ठीक रास्ते पर लायें। इस प्रकार अचेतन में और स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीयता की भावना का परिणाम बलपूर्वक धर्मपरिवर्तन, हिंसात्मक विस्तार और डाकुओं का साम्राज्यवाद होता है। "नागरिक अथवा सामन्तशाही राष्ट्र राष्ट्रीय बनता है और राष्ट्रीय से साम्राज्यवादी।"[२] पोल, फिन और अल्सेशियन जैसे अनैच्छक राष्ट्रों को अधिक संख्या और शक्तिशाली

---

[१] आफ्टर दि वार,

[२] कैम्ब—दि ओरिजिन्स एण्ड डेस्टिनी ऑफ इम्पीरियल ब्रिटेन।

राष्ट्रों में बलपूर्वक खपाने के यत्न किये जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने देश से प्रेम करता है और जब आबादी में इतनी वृद्धि हो जाती है और भूमि पर इतना दबाव पड़ता है कि लोगों की गुजर कठिन हो जाती है, तो देश की भूमि का विस्तार करने के अतिरिक्त अपनी जरूरतों को पूरा करने का कोई उपाय दिखाई नहीं देता। पृथ्वी के अधिक-से-अधिक भाग पर अधिकार कर लेने की इच्छा एक प्रबल प्रेरणा बन जाती है। "संसार में सभी जगह हम यूरोप के लोगों को फैला देखते हैं और उन्होंने श्वेत जातियों के सामन्ती समाज का विकास किया है। वे राष्ट्र, जिन्होंने इस होड़ में हिस्सा नहीं लिया, उनका भाग्य भविष्य में दयनीय होगा। किसी भी बड़े राष्ट्र के लिए उपनिवेशीकरण की चाह आज एक जीवन-मरण का प्रश्न है।" इस समय तक यूरोप के राष्ट्रों के बीच गैर-यूरोपीय भूमि की लूट-खसोट में जर्मनी को बहुत कम हिस्सा मिला है। फिर भी प्रथम श्रेणी के राष्ट्र के रूप में हमारा अस्तित्व इस बात पर बहुत निर्भर करेगा कि हम विदेशों में समुद्र-पार एक बड़ी सत्ता बन सकते हैं या नहीं।"[1] जबकि वे अपने साम्राज्य को अपने स्वार्थ के लिए विस्तृत करने को उत्सुक हैं, वे अपना अभिप्राय साफ-साफ नहीं बतलाते। वे ऐसे मूर्ख नहीं हैं कि संसार की नैतिक भावना को व्यर्थ में चुनौती दें। अपने विचारों का आधार वे उच्च-से-उच्च मानवीय आदर्शों को मानते हैं और यह दावा करते हैं कि पृथ्वी की पिछड़ी जातियों को सभ्य बनाना उनका ध्येय है। यदि उनके एक हाथ में मार्ग बनाने के लिए तलवार देखते हैं, तो दूसरे हाथ में अपनी महत्त्वाकांक्षाओं पर परदा डालने के लिए वे बाइबल लिये हुए हैं। एक और भी समस्या है, अर्थात् यदि बहुत-से भूभाग अविकसित रह गए तो उससे मानवजाति को बहुत नुकसान होगा। यदि पिछड़ी हुई जातियों के पास अपने क्षेत्रों का विकास करने के साधन नहीं तो यह बड़ी और सभ्य जातियों का कर्तव्य है कि वे उन क्षेत्रों का विकास करें। यह कोई असाधारण बात नहीं। प्रकृति के इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर यह बात अंकित है, अर्थात् योग्यतम के अवशेष का सिद्धांत। जो अधिक कार्यकुशल हैं, वे कौशलहीन जीवों का स्थान ले लेते हैं, इसलिए फालतू आबादी के

[1] त्रीत्स्के, पोलिटिक्स, पृष्ठ १-१७ और १३

लिए स्थान ढूंढ़ने का, अधिक विकसित लोगों द्वारा दूसरों को सभ्य बनाने का, भूमि के अविकसित भागों को उन्नत करने का और अपने राष्ट्र के भविष्य तथा उच्चतर उद्देश्य में अन्धविश्वास का प्रश्न उठता है—और ये सब प्रश्न साम्राज्यवाद में समा जाते हैं।

'रीअल पोलिटिक' की विचारधारा गत चार-पांच शताब्दियों से अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के नियमन में एक प्रबल प्रभाव रही है। इसका मौलिक सिद्धान्त है, "जब मैं तुम्हारी गाय चुराता हूं, तो यह अच्छा है; पर जब तुम मेरी चुराते हो तो यह बुरा है।" निजी स्वार्थ ही सबकुछ है, पशुबल साधन है और आत्मा के लिए स्थान नहीं। "संसार के प्रत्येक भाग में, जहां अंग्रेजी हित खतरे में हैं, मैं आगे बढ़ने और उनकी रक्षा करने के पक्ष में हूं, चाहे विदेशी राष्ट्रों को अपने में मिलाना पड़े अथवा युद्ध का खतरा उठाना पड़े। बस, एक ही शर्त है। जिस देश को हम अपनेमें मिलाना चाहें या संरक्षण में लेना चाहें और उसके प्रति हम जो दावा करें या किसी भी आदर्श को अपनाना चाहें, वह देश ऐसा होना चाहिए जिससे ब्रिटिश साम्राज्य को प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त हो।"[1] हम देखते हैं कि यहां 'रीअल पोलिटिक' का स्पष्ट शब्दों में समर्थन किया गया है और तदनुसार ही साम्राज्यवाद की परिभाषा की गई है। तुम्हारा एकमात्र उद्देश्य साम्राज्य का विस्तार करना है। ऐसा करते समय कोई चिन्ता मत करो, यदि उससे साम्राज्य का कुछ लाभ होता हो। यदि तुम्हारे राष्ट्रीय हित दूसरे देश पर कब्जा अथवा युद्ध या अन्य राष्ट्रों के दमन की मांग करें तो ऐसा करने में संकोच मत करो।

एक झूठे आदर्श के प्रति जो आस्था हम प्रदर्शित करते हैं, उसीके दण्डस्वरूप आधुनिक युद्ध हमारे सामने आया है। यूरोपीय राष्ट्र, जिनका एकमात्र उद्देश्य पिछड़े हुए देशों पर अपने हित तथा स्वार्थ के लिए अधिकार जमाना था, उन यूरोपीय राष्ट्रों की पारस्परिक होड़ तथा ईर्ष्या का युक्तिसंगत परिणाम यह युद्ध है।

पश्चिम के सागर-तट पर
स्मशान की ज्वाला भभक रही है;

---

[1] एडवर्ड डाइसी—'पीस एण्ड वार', नाइंटींथ सेंचुरी, सितम्बर १८९९

और एक स्वार्थी तथा नष्टप्राय सभ्यता की
चिता से अन्तिम शिखाएं उठ रही हैं।
रण के मैदान में अथवा कारखानों में,
शक्ति की पूजा होती है।
हे विश्व के रक्षक, यह तेरी पूजा नहीं!"[1]

साम्राज्यवाद एक कपटी शक्ति है, जो विभिन्न रूप धारण करती रहती है। जब हम इसकी निंदा करना चाहते हैं, तो हम इसे राष्ट्रीय दंभ कहकर दबाते हैं। जब हम इसका समर्थन करना चाहते हैं तो प्रकाश और सद्प्रवृत्तियों के विस्तार का एकमात्र साधन यही दिखाई देता है। यदि साम्राज्यवाद युक्तिसंगत माना जाय, तो यह राष्ट्रीयता की पराजय होगी। साम्राज्यवाद का अर्थ है राष्ट्रवाद अथवा बलवान की स्वाधीनता और कमजोर का शोषण या उसकी गुलामी। जब हम साम्राज्यवाद को युक्तिसंगत मानते हैं अर्थात् बलवान द्वारा कमजोर का स्थान ले लेने को उचित कहते हैं, तो युद्धों को भी हम युक्तिसंगत स्वीकार करते हैं। शोषित जातियां इसे और अपनी दासता को अन्यायपूर्ण कहेंगी और अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष करेंगी। यदि वे आज के जर्मनी की तरह अथवा १९ वीं सदी के इटली की तरह मजबूत होती हैं, तो वे विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकती हैं और स्वाधीन हो जाती हैं। और यदि पोलैंड और आज के चीन की तरह कमजोर होती हैं तो पददलित होती रहती हैं। इसमें ऐसे राष्ट्र शामिल हैं, जो राजनैतिक प्रतिभा और विजेताओं-जैसी श्रेष्ठता के अभाव के कारण दूसरे राष्ट्रों द्वारा नियंत्रित होते हैं। जब-तक इन गुलाम राष्ट्रों के साथ उदार राजनीतिज्ञता की भावना से बर्ताव नहीं किया जायगा, तबतक ये सदा कांटों की तरह चुभते रहेंगे।

साम्राज्यों को केवल सैनिक बल द्वारा सुरक्षित रक्खा जा सकता है। सेना और दबाव से विश्व-ऐक्य स्थापित करने की बात संसार के बहुत से देशों ने की है, जैसे—मिस्र, बेबीलोन, ईरान, ग्रीस,

[1] रवीन्द्रनाथ 'दि ब्लड रैड लायन'; 'इंडिपेण्डेण्ट' में प्रकाशित।
[2] नेशनेलिज्म

रोम, स्पेन, फ्रांस इत्यादि, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। जब ये सब असफल रहे, तो आज का कोई राष्ट्र सफल होने की आशा नहीं कर सकता।

कई लोग यह गलत कल्पना करते हैं कि राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर यूरोप का नक्शा फिर से बनाकर वे स्थायी शान्ति स्थापित कर सकेंगे। रवीन्द्रनाथ के विचार इस मामले में सुस्पष्ट हैं कि इसका कोई उपयोग नहीं। "आप कहते हैं कि भय के षड्यंत्र पर आधारित ये मशीनें पारस्परिक रक्षा के लिए आपस में समझौता कर लेंगी। क्या वाष्पयंत्रों का समूह आपको ऐसी आत्मा दे सकेगा, जिसके पास सद्विवेक हो और जिसका ईश्वर हो? संसार के उस बड़े भाग का क्या होगा, जहां आपको संयम में रखने के लिए भय का कोई हिस्सा न हो? भय और कमजोरी पर आधारित शान्ति लम्बे समय तक नहीं टिक सकती। सारी रीति-नीति इस दृष्टिकोण पर चलती है कि एक राष्ट्र की प्राप्ति दूसरे राष्ट्र की हानि है। जबतक भौतिक आधार और उद्देश्य दूर नहीं होते, तबतक युद्ध और फिर ताजे युद्ध होते रहेंगे। वे तबतक होते रहेंगे, जबतक संसार ठंडा न हो जाय और अन्तिम मनुष्य भी चिरनिद्रा में न सो जाय। युद्ध अधिक उपजाऊ क्षेत्रों में भूमि के लाभ, व्यापारिक उन्नति और अपने माल की खपत के लिए मंडियों को काबू में रखने की इच्छा से ही पनपते हैं। जब यूरोप के स्वतन्त्र राष्ट्र अपने पूर्ण विकसित व्यक्तित्व के साथ एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े होते हैं, तो उनका एकमात्र अभिप्राय गैरयूरोपीय संसार से, जितना हो सके, अधिक-से-अधिक लूटने-खसोटने के लिए प्रयत्न करना ही रहता है। पृथ्वी पर एक भी काला धब्बा है, जो यूरोपीय राष्ट्रों के कब्जे में नहीं आया, तबतक सबकी आंखें उसीपर लगी रहेंगी। और तब निश्चय ही प्रतिस्पर्धियों में लड़ाई होगी। न तो पृथ्वी असीम है और न ही उसमें असीम संपत्ति, जो सब समय सब राष्ट्रों को संतुष्ट कर सके। मान लीजिये कि सारे संसार को विभिन्न शक्तियों में बांट दिया जाय, तब भी युद्ध नहीं रुकेंगे। यदि यूरोप के चरणों में दूसरा ग्रह आकर नहीं पड़ा, जो उसे व्यस्त रखे, तो विश्व के आधिपत्य के लिए स्पर्धा होगी। इस स्पर्धा में केवल एक ही राष्ट्र सबसे ऊपर रह सकता

है और सभी यूरोपीय शक्तियां उस सर्वोपरि स्थान को प्राप्त करने के लिए लड़ेंगी। कोई भी राष्ट्र आसानी से उस स्थान को नहीं पा सकता, क्योंकि यूरोपीय राष्ट्रों की शिक्षा सैनिकीकरण के तरीकों से हुई है; और जबतक उन्हें इतना कुचल नहीं दिया जाता कि वे फिर से उठ ही न सकें, तबतक वे अपने में से किसी एक का सबसे आगे बढ़ जाना सहन नहीं करेंगे। वे इस प्रकार की सत्ता का ऐसा नाजुक संतुलन ढूंढ़ निकालेंगे, जिसे छोटे-से मतभेद भी बिगाड़ देंगे। यदि साम्राज्यवाद हमें कभी शांति दे सकता है तो तभी जब सारा संसार केवल एक राष्ट्र की सत्ता के नीचे आ जाय, क्योंकि लड़ने के लिए कम-से-कम दो की तो आवश्यकता होती ही है। एक विश्व के इस उच्च आदर्श की प्राप्ति तबतक नहीं होगी, जबतक संसार ध्वस्त होकर एक मलबे का ढेर नहीं बन जाता। प्रो० केम्ब कहते हैं, "इतिहास के प्रकाश में, विश्व-शांति एक ऐसा दु:स्वप्न प्रतीत होता है, जो तभी संभव हो सकता है जब सूरज में बरफ रह सकेगा और तारे ग्रह-पथ छोड़कर पूर्ण अंधकार में भटकने लगेंगे।"[१] इसी संबंध में त्रीत्स्के लिखते हैं, "इतिहास के अन्त तक युद्ध होता रहेगा। मानव-विचार और मानव-स्वभाव के नियम और किसी भी विकल्प को सामने नहीं आने देते और न ही कोई विकल्प वांछनीय है।"[२]

राष्ट्रीयता एक अभिशाप बन जाती है, वह राष्ट्रों को एक-दूसरे से विलग करती है। उनके संबंध न तो प्रेम और न ही आदर्शवाद से संचालित होते हैं; भय और ईर्ष्या बढ़ती जाती है। सैनिकीकरण और नाविकों, बमों और हवाई जहाजों में राष्ट्रों का विश्वास रहता है। "उन देशों में जहां राजनैतिक सभ्यता होती है वहां भौतिक संपत्ति की प्राप्ति के लिए एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शिकार करने को तैयार रहता है और इससे वे राष्ट्र भय, लालच और आतंक के वातावरण में रहते हैं। कमजोर राष्ट्रों के खून से पलनेवाली उनकी सभ्यता नरभक्षी और मांसाहारी होती है। उसका एक विचार अपनी सीमाओं से बाहर की हर महानता का खंडन करना है। पहले ऐसे ईर्ष्या-द्वेष और विश्वासघात

---

[१] दि ओरिजिन एण्ड डैस्टिनी ऑफ़ इम्पीरिअल ब्रिटेन,

[२] पॉलिटिक्स, पृष्ठ १-६५

कभी नहीं थे। इन सबको देशभक्ति कहा जाता है, जिसकी पोषक राजनीति है।"[1] इस देव की पूजा के फलस्वरूप जो शरीर का बलिदान, मानसिक हानि और आत्मा का हनन सहना पड़ता है, वह बहुत भयावह है। अत्यधिक सभ्य यूरोप अपनी इस नीति के कालुष्य को नहीं समझता, क्योंकि वह परम्परागत विजय और आधिपत्य का अभ्यस्त है। उसी हवा में वह वह श्वास लेता है और इसलिए वह बेहोश नहीं होता। लेकिन बाहर के लोग इस विष का अनुभव करते हैं। जबतक साम्राज्यवाद के इस उपदेश का, जो जनतंत्रवाद और मानवता की जड़ों को काटता है, सदा के लिए अन्त नहीं कर दिया जाता, तबतक संसार के लिए कोई आशा नहीं है। यदि राष्ट्रीयता की भावना समाप्त नहीं हुई, तो जल्दी ही राष्ट्रों का अन्त हो जायगा। इस स्पष्ट आदर्श की प्राप्ति में यदि कोई भी बाधा आई तो मानवता की आशा के टुकड़े हो जायंगे और इस पागलपन की पुनरावृत्ति होती रहेगी।

राष्ट्रीयता वह है, जहां शासितों की राय से राज्य चलाया जाए। इस सिद्धान्त को गैर-यूरोपीय देशों पर भी लागू करना चाहिए। आज के युग में राष्ट्रीयता का सिद्धान्त जाति और वर्णभेद को स्वीकार करता है, किन्तु जबतक इन अनिश्चित भेदों को तोड़ नहीं दिया जाता, तबतक स्थायी शान्ति की कोई संभावना नहीं। जनतंत्र इस बात पर जोर देता है कि न केवल मनुष्य के द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण न हो, किन्तु एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण भी नहीं होना चाहिए। यूरोप व्यक्ति के जिस सर्वोच्च आत्म-विकास को आवश्यक मानता है, वह राष्ट्रों पर भी लागू होना चाहिए, क्योंकि रवीन्द्रनाथ के अनुसार व्यक्तित्व राष्ट्रों और व्यक्तियों दोनों में पाया जाता है। "राष्ट्र ऐसे जीवित प्राणी हैं, जिनके अपने विशेष व्यक्तित्व हैं।"[2] उनकी अपनी आत्मा और प्रज्ञा है, जिसे पूर्ण अभिव्यक्ति और पूरी तरह स्वतन्त्रतापूर्वक विकास का अवसर मिलना चाहिए। चाहे वे कमजोर राष्ट्र हों अथवा मजबूत, जहां भी यह व्यक्तित्व हो, हमें उसे स्वीकार करना चाहिए। यदि हम स्वीकार नहीं करते तो युद्ध होंगे।

---

[1] नेशनेलिज़्म,

[2] 'मॉडर्न रिव्यू', जुलाई १७ पृष्ठ, १

राज्य रुग्णावस्था या अव्यवस्थित दशा में है और युद्ध इस रोग के बाहरी लक्षण हैं। प्लेटो ठीक कहते हैं कि जब राज्य अन्दर से रोगी बन जाते हैं तब युद्ध छिड़ जाते हैं। जितने ही वे अन्दर से विक्षिप्त होते हैं उतने ही बाहरी संघर्षों में फंसते हैं। राज्यों का वर्तमान रोग है उनकी यंत्रवादी विचार की गुलामी, और वे अपनी आत्मा की बीमारी, अधीन जातियों और छोटे राष्ट्रों को दबाकर और उनमें ईर्ष्या-द्वेष को पैदा करके तथा अत्याचारों को बढ़ाकर प्रदर्शित करते हैं। वे उसे अपनी महत्त्वाकांक्षा और अहंकार, आत्मश्लाघा और भूमि की लिप्सा में दिखाते हैं। एक आदर्श राज्य युद्ध का विरोधी होगा। उसके लक्ष्य का केन्द्र राष्ट्र नहीं, संसार के लोग होंगे। 'राष्ट्रीयता' पर अपने भाषणों में रवीन्द्रनाथ 'राष्ट्र' और 'जनता' के बीच एक रेखा खींचते हैं और बताते हैं कि 'राष्ट्र' आधुनिक पश्चिमी तरीके का है और 'जनता' प्राचीन पूर्वी आदर्श है। पश्चिम में आज राष्ट्र का जो अर्थ लगाया जाता है, उसके अनुसार वह एक भयंकर मशीन बन गया है, जो सबको मारता है, सारा विज्ञान जिसके अपने स्वार्थ के लिए है और अन्त में जिसके कारण सारे लोग उन ऊंचे आदर्शों को खोकर केवल राज्य के हित के लिए काम करते हैं। रवीन्द्रनाथ राष्ट्र की परिभाषा सामूहिक उदर-पूर्ति के आधार पर संगठित समाज के रूप में करते हैं। वह एक मृत और आत्मा-विहीन मशीन है, जो मानव-संगठनों को, जो उसके अंग हैं, अपने जीवन और आत्मा को खोकर उस मृत मशीन के जीवनहीन संगठन बन जाते हैं। किन्तु जनता एक जाग्रत आत्मा है। वह आध्यात्मिक और जिन्दा है। पूर्व के लोग सत्ता के लिए अपने संगठन नहीं बनाते, बल्कि पूर्णता पाने के लिए बनाते हैं। वे घृणा नहीं करते, मारते नहीं, संदेह और ईर्ष्या नहीं करते, बल्कि जीते हैं और जीने देते हैं, प्यार और पूजा करते हैं। एक राष्ट्र के व्यक्ति यंत्र की तरह काम करते हैं, किन्तु जनता के अन्दर जीवन की लोच और आत्मा की उदारता होती है। पूर्वीय राष्ट्र अभी भी जनता हैं, यद्यपि धीरे-धीरे वे भी अब पश्चिम की चकाचौंध में अपने गुण त्याग रहे हैं। जापान भी एक जनतारूपी राष्ट्र था। किन्तु पश्चिम ने उसके दरवाजे पर जाकर गर्जना की "यहां एक राष्ट्र बनने दो और इस प्रकार वह राष्ट्र बन गया।" और अब जब उसका

अस्तित्व है, तब आप क्यों अपने अन्तःकरण में आनन्द की उस पुनीत भावना का अनुभव नहीं करते और कहते कि वह अच्छा है? यही दोष, जो उसके अपने जीवन में इतने स्वाभाविक और सरल दिखाई देते हैं, जब वे अन्य राष्ट्रों में दिखाई देते हैं तो उसके कारण आश्चर्य, क्रोध और क्षोभ की भावना जागृत होती है। इसलिए जब आप अपने ही सांचे में ढले जापानी राष्ट्र को देखते हैं, जो राष्ट्रीय आत्मश्लाघा के मार्ग पर चल रहा है, तो आप सिर हिलाते हैं और कहते हैं, "यह ठीक नहीं।" "अपने गंभीर विचारों के क्षणों में हम महसूस करते हैं कि राष्ट्रीय भावना को विकसित करना ठीक नहीं है, फिर भी संसार की राष्ट्रीयता-विहीन जनता के प्रति हमारा आदर नहीं।"[१] जापान जब एक साधारण देश था तब यूरोप ने उसकी कभी परवाह नहीं की। किन्तु अब वह उसे खुश करने को सदा चिन्तित रहता है और उसके प्रति सद्व्यवहार से पेश आता है। "जापान के पास मानवता की सारी पूंजी, शौर्य और सौंदर्य की एकरूपता, उसके आत्मसंयम की गहराई और आत्माभिव्यक्ति की बहुलता——सभी कुछ था, फिर भी राष्ट्रीयता पर आधारित देशों ने उसका कभी आदर नहीं किया, जबतक कि उसने यह नहीं दिखा दिया कि खून के प्यासे शैतानी कुत्ते यूरोप में ही नहीं पलते, उन्हें जापान में भी पाला जा सकता है और मानव की विपत्तियों पर उन्हें मोटा किया जा सकता है।"

(४)

रवीन्द्रनाथ भविष्य के बारे में निराशावादी नहीं। वह जानते हैं कि यूरोप ने समय-समय पर ऐसे 'श्रेष्ठ मस्तिष्क' पैदा किये हैं, जिन्होंने वर्ण और जातिभेद से ऊपर उठकर मानवीय अधिकारों की रक्षा की, जिन्होंने मानवता के हित में और युद्धबन्दी के पागलपन के विरुद्ध अपनी आवाज उठाने के लिए अपने ही लोगों से अगणित अपमान सहन किये। वे इस बात को प्रमाणित करते हैं कि यूरोप में अभी शाश्वत जीवन-स्रोत सूखा नहीं है और इससे समय-समय पर उसका पुनर्जन्म अवश्य होगा।"[२]

---

[१] नेशनेलिज्म पृष्ठ ३९-४८

[२] 'दि नेशन', मार्डन रिव्यू, १७ जुलाई,

आशावादी रवीन्द्रनाथ का यह विश्वास है कि युद्ध केवल ध्वंसात्मक नहीं, रचनात्मक भी है और वह आशा करते हैं कि वर्तमान युद्धों से एक नये युग का उदय होगा, जो मानवात्मा को, जो वर्षों से बोलने को आतुर है, मुक्त कर देगा। यह भयंकर रक्तपात सारे मैल और धब्बों को साफ कर देगा और यह बलिदान एक ऐसा मार्ग दिखायेगा, जो यूरोप को फिर से प्रेम के स्वर्ग की ओर ले जायगा। इस नरक में से गुजरकर जानेवाले मनुष्य इस स्वर्ग की कीमत अधिक अच्छी तरह जान सकेंगे। ऐसा दुःख, जो अहंकार को मिटा दे और इच्छाओं को शुद्ध कर दे, विभिन्न व्यक्तियों में एकता की चिनगारी पैदा करेगा। अपना छोटा-सा अहम् नष्ट हो जायगा। छोटे-छोटे अहंकार बलिदान की पकड़ में आ जायंगे, और मनुष्य का पुनर्जन्म होगा।

महान् संघर्ष में पैदा हुआ विश्वास एक नई खोज है। बन्दूकों की गड़गड़ाहट और शस्त्रों की झनझनाहट में, घृणा की चीखों और मृत्यु की कराहों में, व्यथा के रुदन और निराशा की आहों में कवि रवीन्द्र ईश्वर की आवाज के गर्जन को स्पष्ट सुनते हैं और भौतिक सभ्यता का अनुसरण करनेवालों को ताड़ना देते हैं और उन्हें बताते हैं कि तर्क के आधार पर चलनेवाली सभ्यता मानव का जीना दूभर कर देगी। यह आशा की जाती है कि जिन्होंने मृत्यु का मुख देखा है, वे जब लौटेंगे तब भौतिकवाद के जहर से राष्ट्रों को बचा लेंगे।

क्या शहीदों के रक्त और माताओं के आंसुओं का मूल्य पृथ्वी की धूल में बिल्कुल खो जायगा। क्या वह अपने मूल्य से स्वर्ग को मोल नहीं लेगा ?

और जब मनुष्य अपने मानवीय बन्धनों को तोड़ देगा, तब क्या असीम क्षण प्रत्यक्ष नहीं हो जायगा ?[४]

युद्ध के बाद संसार का निस्तार पूर्व के आदर्शों को अपनाने में है, विशेषकर आत्मिक प्रेम, सौंदर्य और स्वतन्त्रता, जो हिस्सा बंटाने से घटते नहीं।

मैं अपने गृह के कोने में बैठा था, यह सोचता हुआ कि वह किसी

---

[३] नेशनेलिज्म, पृष्ठ ८३

[४] फ्रूट गेदरिंग, ८४; नेशनेलिज्म, पृष्ठ ६६

भी अतिथि के लिए बहुत छोटा है; किन्तु अब जब उसका द्वार एक अज्ञात प्रसन्नता से खुल गया है, मैं देखता हूं कि उसमें तुम्हारे लिए और सारे संसार के लिए पर्याप्त स्थान है।"[1]

भारत, जिसे हम पूर्व का सच्चा प्रतिनिधि मान सकते हैं, उसने कभी भी व्यापार या विजय की इच्छा से किसीपर आक्रमण नहीं किया। उसे अपने 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' और समग्र जीवन के मूल स्रोत होने का महान् गौरव प्राप्त था।

हां, तेरे प्रकाश और उल्लास की किरणें संसार की आत्मा को मुक्त करने के लिए पूर्व में छिपी पड़ी हैं।[2]

आध्यात्मिक आधार पर संसार के पुनर्निर्माण के लिए हृदय-परिवर्तन आवश्यक है और वह इस वर्तमान संघर्ष में तभी संभव है जब सभी युद्ध की क्रूरताओं से थक जायं। यह संभव है कि मानव-स्वभाव स्वयं अब अपने कपट और लिप्सा, आलस्य और स्वार्थ से दूर हो विशुद्ध-बन जाय। आदि मानव के देवी-देवताओं को हम दर्शन और धर्म के क्षेत्रों से तो निकाल चुके हैं, अब राजनीति से भी उनका निष्कासन करना होगा। राज्य के पीछे दौड़ते हुए, और राज्य जो कुछ भी करना चाहे उसे न्यायसंगत बताते हुए, धर्म के विचित्र रूप को अब अतीत की वस्तु बन जाना चाहिए। धर्म और दर्शन का एक ही भगवान् अब विश्व-विद्यालयीन चर्चा का विषय न बनकर मानव के जीवित विश्वास का आधार होना चाहिए। सब सच्चे धर्मों की तरह ईसाई मत स्वार्थपरक राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद का शत्रु है। स्वतंत्रता के विकास में उसका सबसे बड़ा योगदान मानव-व्यक्तित्व के अनगिनत मूल्य पर जोर देना है। जब संसार की चेतना अपने ही अतीत की मोहनिद्रा में पड़कर, अपनी गुलामी में मतवाली थी और मानव-स्वभाव के पुण्य रहस्य को भूल गई थी, तब ईसाई मत का आगमन हुआ और उसने व्यक्ति के विकास पर बहुत जोर दिया। ईसाई मत का ऐसे जनतंत्र में विश्वास है, जहां मनुष्य ही नहीं, राष्ट्र भी समान माने जायं। जनतंत्र सभी राष्ट्रों की समान स्वतंत्रता के अधिकारों पर उसी तरह जोर देता है जैसे प्रत्येक

---

[1] फ़ूट गैदरिंग, ७६

[2] इंडिपेण्डेण्ट में 'दि ब्लड रेड लाइन'

राष्ट्र का अपने-आप एक होने का अधिकार है। इस तरह ईसाई मत ने विस्तार की नीति का कड़ाई से खंडन किया। "तू अपने पड़ोसी की जमीन का लोभ नहीं करेगा। तू अपने पड़ोसी के समुद्र का लालच नहीं करेगा, उसके किलों का भी नहीं, उसके बन्दरगाहों का भी नहीं, उसकी दूकानों का भी नहीं, उसके जहाजों का भी नहीं और ऐसी किसी वस्तु का नहीं, जो उसकी है।"

संसार सब राष्ट्रों के लिए यदि वे अपने जातीय अभिमान और शत्रुता को छोड़ दें तो एक साथ शान्तिपूर्वक रहने के लिए काफी बड़ा है। विश्व को एक बड़े परिवार की तरह मानना होगा, विभिन्न राष्ट्र जिसके सदस्य होंगे और प्रत्येक उस समस्त परिवार के कल्याण के लिए अपना-अपना योगदान देगा। तब सभीको सूरज में स्थान मिलेगा। रवीन्द्रनाथ की कल्पना में, "मानवता उस गुलाब के फूल की तरह है, जो अपनी सब पंखुड़ियों को खोलने पर प्रत्येक की विभिन्नता बताते हुए भी एक ही है; उसी तरह मानवता का पुष्प तभी पूरा माना जायगा, जब विभिन्न जातियां और राष्ट्र अपनी पूर्ण विशेषताओं सहित भिन्न होते हुए भी स्नेह के बन्धन द्वारा मानवता की एक ही लड़ी में पिरोये होंगे।" वह नहीं समझते कि हर संगठन की राष्ट्रीय आत्मा की सुरक्षा मानव के भाईचारे के खिलाफ काम करेगी। वह नहीं समझते कि प्रत्येक इकाई की राष्ट्रीय आत्मा की सुरक्षा और विश्वबन्धुत्व में विरोध है। यांत्रिक एकरूपता का मृतप्राय स्तर, जो सब राष्ट्रों को एक-जैसा बना दे, अवांछनीय है और उसका स्थान विभिन्न पहलुओं और विविध सौन्दर्य-सहित आध्यात्मिक सौंदर्य को लेना चाहिए। संसार को हर प्रकार की संस्कृति का अपना-अपना योगदान मिलना चाहिए। शिथिल विश्व-बन्धुत्ववाद किसी काम का नहीं। "हम यह महसूस करेंगे कि जातीय व्यक्तित्व के विकास द्वारा ही वास्तव में सार्वभौमता प्राप्त हो सकती है, और इस सार्वभौमता की भावना से ही हम व्यक्तित्व को पूर्ण बना सकते हैं।"[१] रवीन्द्रनाथ एकता और सामंजस्य के आदर्श का समर्थन करते हैं, न कि समानता और सादृश्य का; क्योंकि यदि दूसरा उद्देश्य प्राप्त हुआ तो वह जीवन से सौंदर्य और विविधता को छीनकर

[१] माई इण्टरप्रिटेशन ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री

विचारों और उद्देश्यों की नीरस एकस्वरता को ला बिठायेगा। इसके अलावा, सभी जातियों को एक ही ढांचे में ढालने का आदर्श प्रकृति के स्वभाव के विरुद्ध है और वह प्राप्त नहीं हो सकता। रवीन्द्रनाथ मानव-जाति के लिए एक प्रस्ताव सामने रखते हैं, जिसके अनुसार वह राष्ट्रों के एक परिवार के आदर्श का समर्थन करते हैं जहां हर सदस्य अपनी विशेषता को लायगा। अन्तर्राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय स्वातंत्र्य का यह आदर्श राष्ट्रों की सीमाओं को तोड़कर उनमें सामंजस्य स्थापित करेगा। तब सभ्यताओं को संसार की संपूर्णता और एकता के विचारों से प्रेरणा मिलेगी। तब हम जानेंगे कि विश्व के एकाधिपत्य-जैसी कोई वस्तु वहां नहीं है। सब जगह किसी भी एक राष्ट्र की प्रधानता नहीं। यदि एक राष्ट्र राजनीति में सर्वोच्च है, तो दूसरा धर्म में, तीसरा कला में और इस प्रकार सब किसी-न-किसी क्षेत्र में सर्वोपरि हो सकते हैं। सभी एक समान महान् हैं और जीवन के संगीत तथा संसार की एक-स्वरता के लिए समान रूप से आवश्यक हैं। इस चित्र-विचित्र संसार के लिए सब राष्ट्रों का स्वतंत्र और स्वाधीन अस्तित्व आवश्यक है। सभी राष्ट्र अपने लिए और एक दूसरे के लिए सुप्रतिष्ठित हैं, क्योंकि वे उस संपूर्ण के लिए सुप्रतिष्ठित हैं। प्रत्येक इस विश्व की संपत्ति की समृद्धि में योगदान देता है और उससे लेता भी है। इसलिए एक राष्ट्र को अपने अस्तित्व के लिए दूसरे से नहीं लड़ना चाहिए। संसार के सभी राष्ट्रों को स्वातंत्र्य और स्वाधीनता की यही देन, जातियों और राष्ट्रों के दीर्घकालीन कलहों को रोक सकती है। राष्ट्रों के बीच भाईचारे का खोया विश्वास पुनः प्राप्त हो सकेगा। कवि-स्वप्न की तरह काल्पनिक नहीं, वह एक जीवित वास्तविकता बन जायगा। तब विश्व एक स्वतंत्र साम्राज्य अथवा निःस्वार्थ और आत्म-त्यागी राष्ट्रीयता पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्रमंडल में परिवर्तित हो सकेगा।

जैसे व्यक्तिगत संबंधों में नैतिकता का अर्थ होता है, निजी इच्छाओं को कर्तव्य के कानून के अधीन कर देना, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का अर्थ है राष्ट्रों के निजी हितों को मानवता और विश्व के अधिकारों के अधीन सौंप देना। यह सोचना अनुचित है कि नैतिक सिद्धान्तों का राजनीति में स्थान नहीं। ये सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय मामलों

में उतने ही उपयोगी हैं, जितने मानव के व्यक्तिगत जीवन में। राज्य एक जाति की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। सत्य और सम्मान उसके लिए उतने ही पुनीत हैं, जितने व्यक्तियों के लिए। राज्य अपने में साध्य नहीं है। वह नैतिक कानून से अधिक ऊंचा नहीं। जब मूल्यों के अंकन में यथोचित परिवर्तन हो जायगा तब राष्ट्रों के समझदार लोग युद्ध की निन्दा करेंगे और उसे बुद्धि की असफलता और आत्मा की अकर्मण्यता समझेंगे। इस पूर्णाहुति से सच्चे आध्यात्मिक जनतंत्रवाद का जन्म हो सकता है। अब लड़ाकू लोग आत्म-परीक्षण के लिए तैयार हैं। सभी जगह हमें प्रश्नार्थ चिह्न मिलता है। बड़ी गंभीरता से हमसे पूछा जाता है—"क्या हम भाईचारे के उस धर्म का पालन करते हैं जिसे बौद्धिक रूप से हमने स्वीकार किया है? मनुष्यों की वर्तमान पीढ़ी को यह एक असाधारण गौरव प्राप्त है कि यह एक ऐसे आध्यात्मिक जनतंत्र राज्य का संगठन करने जा रही है, जिसकी परिधि में समस्त मानवता आयेगी और यह अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के हितार्थ एक केन्द्रीय शक्ति को जन्म देगी। स्वार्थहीनता और जातपांत के भेदभाव के बिना मानव-जीवन के प्रति आदर पर आधारित जबतक ऐसा संगठन तैयार नहीं हो जाता, तबतक 'हेग' के प्रासाद, 'शांति-संगठन' और 'समझौता-परिषद्' सब बेकार होंगे।

जब रवीन्द्रनाथ ने पश्चिम की स्वार्थी राष्ट्रीय भावना की कड़े शब्दों में निन्दा की, तो उनसे पूछा गया कि राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का वह किस आधार पर खंडन करते हैं, जबकि इसी भावना के अभाव में भारत स्वयं एक पराजित राष्ट्र के समान अपमानित और नम्र बनकर धूल चाट रहा है? उन्होंने उत्तर दिया कि वह धूल, जिसमें भारत के लोग झुकाये गए हैं, उन ईंटों से, जो ऐहिक अभिमान और सत्ता के महल बनाती हैं, कहीं अधिक पवित्र है, क्योंकि "यह मिट्टी जीवन, सौंदर्य और पूजा के लिए उपजाऊ है।"

"जो अभिमान के मार्ग पर चलते हैं, क्षुद्र जीवन को अपने पैरों-
तले कुचलते हुए, पृथ्वी की कोमल हरियाली को अपने
पदचिन्हों के रक्त से ढकते हुए,

उन्हें खुशियां मना लेने दो और ओ भगवान्, तुम्हें धन्यवाद देने दो, क्योंकि दिन उनका है।

किन्तु मैं कृतज्ञ हूं कि मेरा भाग्य उन दीन लोगों के साथ है, जो सहते हैं और सत्ता के भार को वहन करते हैं, जो अपने चेहरे छिपाते हैं और अपनी सिसकियों को अन्धकार में छिपा लेते हैं। क्योंकि उनके दुःख की प्रत्येक तड़पन तुम्हारी रात्रि की रहस्यमय गहराई में उठी है और प्रत्येक अपमान तुम्हारे महान मौन में संचित किया गया है।

और कल उनका है।

ओ सूर्य, रक्त बहते हुए हृदयों पर प्रभात के खिलते हुए फूलों में उदित हो, जब गर्व की मशालोंवाली खुशहाली राख में मिल जायगी।"[1]

रवीन्द्रनाथ भारतीयों को अपनी परिस्थिति से शर्मिन्दा न होने और खुश रहने का सदुपदेश देते हैं।

"मेरे भाइयो, अहंकारी और शक्तिशालियों के साथ सफेद और सादे कपड़ों में खड़े होने से शर्मिन्दा न होओ!

नम्रता और आत्मा की स्वतंत्रता को अपना मुकुट बनने दो!

गरीबी के अभाव-रूपी बाहुल्य पर नित्य भगवान् की गद्दी बनाओ!

यह जानो कि जो बड़ा है, वह महान् नहीं है और अभिमान सदा टिकता नहीं।"[2]

(६)

रवीन्द्रनाथ राष्ट्रवादी हैं, किन्तु गलत तरह के नहीं। वह देश से प्रेम करते हैं, किन्तु दूसरों से घृणा नहीं करते। उनकी देश-भक्ति विश्व-प्रेम के अनुरूप है। राष्ट्रीय स्वाधीनता सामाजिक विकास का एक ऐसा काल है, जिसमें से होकर गुजरना आवश्यक होता है, पर अन्त में वह संपूर्ण विश्व की एक विचारधारा में परिवर्तित हो जाता है। जबकि

---

[1] फ्रूट गैदरिंग, ८६

[2] दि सनसेट ऑफ़ दि सेंचुरी

रवीन्द्रनाथ भारत के महान् भविष्य का निर्माण राष्ट्रीय आधार पर नहीं चाहते, वह चाहते हैं कि भारत स्वतंत्रता प्राप्त करे, जिससे वह संसार के कल्याण में अपना योगदान दे सके, जिससे हो सकता है वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की स्थिति में हो और संसार को अपना संदेश दे सके। रवीन्द्रनाथ भारत की आत्मा, उसके आध्यात्मिक सिद्धान्त से प्रेम करते हैं, न कि जमीन और व्यापार से। वह नहीं चाहते कि भारत अपने प्राकृतिक साधनों के लिए अपने जंगलों को बनाये रखने के लिए, अपनी खानों को नष्ट होने से बचाने के लिए और इस बड़े देश की समृद्धि के लिए उसकी भौतिक संपत्ति को सुरक्षित रखने के लिए संघर्ष करे। उनके लिए यह आवश्यक होते हुए भी निम्न आदर्श है। इसमें संदेह नहीं कि भारत की दृष्टि से यह एक बड़ी बरबादी है कि अन्य देश भारत के भौतिक साधनों का लाभ उठायें। किन्तु यह—कुछ करोड़ अधिक या कम—कोई बड़ी बात नहीं है। जब एक पेशेवर राजनीतिज्ञ शिकायत करता है कि विदेशी राज्य बुरा है, क्योंकि इसके कारण धन बाहर जाता है, टैक्स बढ़ते हैं, उद्योग नष्ट होते हैं और सैकड़ों-हजारों लोग अकाल में मर जाते हैं, तब उन्हें यह बात इतना अधिक प्रभावित नहीं करती जितना आत्मा और संस्कृति के विचार। भारत की आत्मा, उसका आदर्श, उसका विचार, उसका सद्विवेक, न्याय और सत्य से प्रेरणान्वित आत्मा, वह सब जो मनुष्य को बनाता है, आज खतरे में है। उनका कहना है कि राष्ट्रीय संस्कृति डगमगाती है, उसकी आत्मा बुझ जाती है और वह प्रत्येक वस्तु—विश्वास, उद्देश्य और चरित्र—जो राष्ट्र को महान् बनाती है, निश्चय ही क्षीण होती जा रही है। यह मन के ऊपर जुआ-रूपी भार है, आत्मा का रोग है, जिसकी ओर वह इंगित करते हैं। हम धीरे-धीरे भारत की प्राचीन संस्कृति खो रहे हैं, "वह संस्कृति जो मनुष्य को उसकी सच्ची सम्पत्ति और अन्तरात्मा की शक्ति, वह संस्कृति जो अभाव और भय में स्वस्थचित्तता प्रदान करती है, लाभ-अलाभ की इच्छारहित आत्म-त्याग, मृत्यु की अवहेलना और मानव तथा सामाजिक प्राणियों के प्रति अगणित सामाजिक कर्तव्यों की स्वीकृति।"[१]

[१] नेशनेलिज्म, पृष्ठ ५३

उनके अनुसार हमारी हानि का यह मापदण्ड और हमारे विनाश की सीमा का परिचायक है। भारत की आध्यात्मिक शक्तियां और साधन बरबाद हो रहे हैं, भावना और कल्पना-जैसी दिव्य मानवीय शक्तियां, जो मनुष्य की अन्तरतम गहराई तक पहुंचती हैं, न तो उनका पूर्ण उपयोग होता है और न विकास। विकास का मार्ग भूतकाल की जातियों की आध्यात्मिक उपलब्धियों को वर्तमान की नजर के सामने रखना है, आत्मा और मन की अमूल्य निधियों को सुरक्षित रखना है और उन्हें भारत के वर्तमान और भावी नागरिकों के जीवन में इस महान् आध्यात्मिक विरासत के रूप में सुरक्षित रखना है। हमें अपने बहुमूल्य जातीय गुणों को खोजना है और मानव-समाज के हितार्थ उन्हें अपने जीवन में उतारना है। भारत का यह आध्यात्मिक आदर्श है, जो मानवात्मा को स्वतंत्रता देगा और उनके संकुचित तथा संकीर्ण वातावरण के बंधनों को तोड़ देगा। हमें इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकना है, जिसके अनुसार भौतिकवाद आत्मा पर छाया जा रहा है। तभी हम उस दैवी मिलन के आदर्श से पुनः प्रेरित हो सकेंगे।

"तूने हमें जीने के लिए जीवन-दान दिया है,
हमें अपनी पूरी शक्ति और इच्छा से
इस सम्मान के संरक्षण की शक्ति दे!
क्योंकि हमारी जो भी प्रतिभा है, वह
तेरे ही प्रकाश से प्रकाशित है;
इसलिए हम तेरे नाम से उस शक्ति का
विरोध करते हैं, जो हमारी आत्मा में
उसकी पताका फहराना चाहती है।"[1]

आत्मा की पावनता के लिए चाह, पूजन के आनन्द, उसकी अनथक आध्यात्मिक टोह और धर्मोचित आदर्श को प्राप्त करने के लिए आत्मा के ज्वलंत उद्वेग को अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता भारत को चाहिए। आत्मा की उच्चतर स्वाधीनता को पाने के लिए यह एक साधन है। भारत को अपनी राष्ट्रीय प्रतिभा के अनुसार अपनी समस्याएं

[1] इंडिआज़ प्रेयर

सुलझानी चाहिए। इसका यह कारण नहीं कि इस पुण्यभूमि में हमारे तत्त्वदर्शी पूर्वजों की भस्म मिली है। इसका कारण यह है कि भारत सदा शाश्वत सिद्धान्तों का समर्थक रहा है। वह सिद्धान्त है कि जीवन एक आध्यात्मिक प्रेरणा है, भौतिक सृष्टि आत्मा की चेरी है और समस्त विश्व-आत्मा में एक है। हमारी प्रेरणा और प्रयत्नों का इन्हीं आदर्शों द्वारा पथ-प्रदर्शन होना चाहिए। भारतीयों के लिए मानव-जाति और उसकी पापपूर्ण तथा पाशविक आदि प्रवृत्तियों के बीच भारत की अमर आत्मा है। किन्तु पश्चिम के प्रभाव के कारण भारत के लोग तथाकथित आधुनिक ज्ञान के टुकड़ों के बदले अपनी आध्यात्मिक संपत्ति का सौदा कर रहे हैं। वे साहस तथा सौजन्य, न्याय तथा पावनता के आदर्शों के, जिन्हें हमने अतीत में प्राप्त किया, आज खो रहे हैं। अनन्त जीवन में विश्वास, सात्विकता और पवित्रता में आस्था, सभी बाहरी रूपों और पाखण्डों से घृणा और इस धारणा में विश्वास कि आत्मा ही सबकुछ है और शरीर कुछ नहीं—ये सब बातें आज लुप्त होती जा रही हैं। इसलिए रवीन्द्रनाथ हमें आत्मिक स्वाधीनता प्राप्त करने को कहते हैं और आत्मा जो कुछ खो चुकी है, उसे पुन: पाने का आग्रह करते हैं। "भारत का अनन्त जागरूक ईश्वर आज हमारी आत्मा से—उस आत्मा से जो अमर है, किन्तु जो आज भूलुण्ठित है और बाहरी अन्ध-विश्वासों की जंजीरों में जकड़ी है, जो बाहरी आदेशों के अनुशासन में फंसी है—संबोधन करता है। एक के बाद एक ठेस लगाकर और चोट मारकर ईश्वर उस आत्मा से कहता है, 'आत्मानं विद्धि!'—"अपने आपको जानो!"[१] स्वाधीनता की भावना के प्रति आज सारा संसार जागरूक है, किन्तु भारत कहां है? क्या वह इस संक्रमण से अछूता रह सकता है? क्या वह ऐसी सार्वभौम महत्त्वाकांक्षा से, जो सभी मनुष्यों को वश में किये हुए है, अछूता रह सकता है? हे भारत, उठ! पुरानी परम्पराओं के जादू को तोड़, अन्धविश्वास के फन्दे को काट और आत्मा तथा स्वाधीनता के प्राचीन किन्तु उपेक्षित आदर्श की ओर मुड़!

"आखिर वह दिन आ पहुंचा;
पर भारत कहां है?

[१] 'मॉडर्न रिव्यू', सितम्बर १९१७, पृष्ठ ३३९

हे देव ! सदा जागरूक देव !
तू उसके आत्म-संशय और निराशा पर प्रहार कर !
उसे उसका पीछा करनेवाली परछांई के भय से बचा ![1]



[1] 'मॉडर्न रिव्यू', सितम्बर १९१७, पृष्ठ, २३१